महामहिम श्री स्वामी जयराम दास जी महाराज
(बाबा जी महाराज)
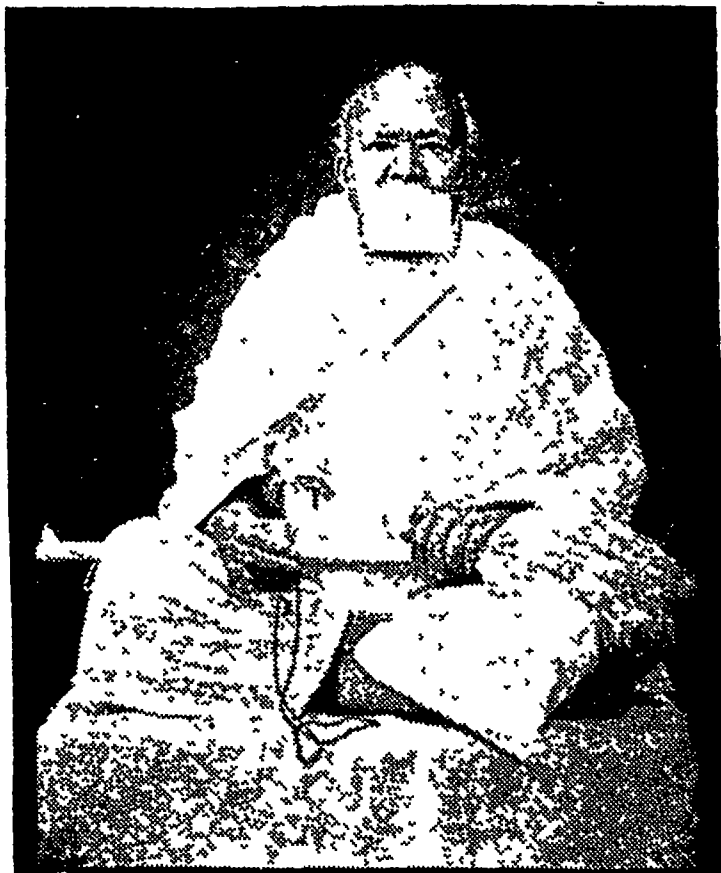
(चित्र केवल परिचय के लिए है)

जन्म भूमि

रूपाहेडी

स्वर्गवास

लुधियाना।

किस को ?

जिन की पवित्र छत्र-छाया तले रहकर जीवन मे
जैन-साधु वनने के भाव परिपक्व हुए, उन्हें
पोषण मिला और जिन के मंगलमय
अनुग्रह से ये पक्तियां लिखने की
क्षमता प्राप्त हुई
उन्ही
हामहिम, प्रपितामह, मगलमूर्ति, स्वनामधन्य,
स्थविरपद- विभूषित परम श्रद्धेय

परम पूज्य

श्री जयरामदास जी महाराज

के

पावन चरणों में

सभक्ति
सविनय
समर्पित

——ज्ञानमुनि

धन्य-वाद

"भगवान महावीर के पाच सिद्धान्त" इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन दानी सज्जनो ने सहयोग देने का अनुग्रह किया है, उन के पवित्र नाम इस प्रकार है—

१. श्रीमती सत्या देवी जैन
धर्मपत्नी श्री ज्ञान चन्द्र जी,
प्रो० यूनायटिड हौज़री फैक्टरी लुधियाना

२. श्री विद्यासागर जी जैन सुपुत्र श्री खज़ाची रामजी,
प्रो० आत्माराम गण्डा मल जैन बैंकर्ज़, जनरल कमीशन-एजेण्ट, जण्डियाला गुरु (अमृतसर)

३. श्रीमती प्रकाशवती जैन,
धर्मपत्नी श्री सुन्दरदास जी जैन,
प्रो० श्री लछमनदास रत्न चन्द्र जी जैन
रोपड़ (अम्बाला)

४. श्री वस्ती मल जी आनद राज जी जैन,
तम्बाकू बाज़ार जोधपुर (राजस्थान)

५. श्री मोहन लाल जी धीर
प्रो० मोहन हौजरी फैक्टरी, दाल बाज़ार, लुधियाना

६. श्री श्रीचन्द्र त्रिलोक चद जी जैन

कटरा लेसवा, चान्दनी चौक देह्ली

७ श्री रघुवीर सिंह जी लोढा,

सुपुत्र श्री कस्तूरी लाल जी लोढा, मकान नं० १००९

माली वाड़ा, देह्ली

८ श्री शीतल दास कैलाश चन्द्र जी जैन चूहड़चक वाले

ज़ीरा (फिरोज़पुर)

९ श्री नगीन चन्द्र खैरायती राम जी जैन, चूहड़चक वाले

मोगा मण्डी

१० श्री सुखराज जी जैन, पसरूर वाले सिविल लाईन

दीप गज, B.I 347/12 लुधियाना

इन दानी सज्जनो की उदारता से इस पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है। मैं "आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय" की ओर से इन दानी महानुभावो का धन्यवाद करता हू। और आशा करता हू कि भविष्य मे भी ये सज्जन साहित्य-सेवा का पुण्य लाभ प्राप्त करते रहेगे।

प्रार्थी—

मन्त्री—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय

जैन स्थानक, लुधियाना

—o—

अपनी बात

"भगवान महावीर के ५ सिद्धान्त" इस पुस्तक को लिखने की एक लम्बी कहानी है। दो वर्ष होने को हैं,श्रद्धेय तपस्वी श्री स्वामी लाभ चन्द जी महाराज के साथ मुझे जण्डियालागुरु (अमृतसर) जाने का अवसर प्राप्त हुआ, वहा जाने का मेरा यह दूसरा मौका था। एक बार मैं वैराग्य अवस्था मे गया था, और अब कि बार दीक्षितदशा मे। जण्डियाला गुरु मे स्थानकवासी युवको का एक दल बना हुआ है, जिसे "वीर मण्डल" के नाम से पुकारा जाता है। रात्रि के प्रतिक्रमण के अनन्तर वीर-मण्डल के युवको से मिलने का अवसर मिलता था। उन से धर्म-चर्चा की जाती थी, उन्हे जैनसिद्धान्त समझाए जाते थे। इस धर्म-चर्चा मे वीर-मण्डल के युवको के अलाव-अन्य श्रावक लोग भी सम्मिलित रहा करते थे। यह धर्मा चर्चा बिना कारण प्रति-रात्रि की जाती थी। सोत्साह सभी युवक इसमें भाग लेते थे। सर्वप्रथम मैं स्वय सब से एक प्रश्न पूछ लेता था, तदनन्तर युवकवर्ग उसका उत्तर दिया करता था। उत्तर-प्रदान की यह प्रक्रिया व्यवस्थित और क्रमपूर्वक चलती थी, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार क्रमपूर्वक सभी उपस्थित लोग खड़े होकर अपने-अपने ढंग से प्रश्न का उत्तर दिया करते थे। इस पद्धति को

चालू करने के मेरे तीन उद्देश्य थे–१–युवकों मे धर्म-चर्चा करने का उत्साह बढेगा । २- युवक बोलने का ढंग सीख सकेंगे । ३- युवको को धार्मिक जानकारी प्राप्त होगी । उत्तरदाताओं के सभी उत्तर सुनकर उन मे जो स्खलना होती थी, उसका सुधार कर दिया जाता था । कई वार उपस्थित व्यक्तियों की ओर से भी प्रश्न किये जाते थे, उनका समाधान मैं कर देता था । इस तरह प्रश्नोत्तरो को लेकर अच्छा खासा समय बंध जाता था ।

रात्रि की धर्म-चर्चा से जण्डियाला गुरु के सभी युवक प्रभावित थे, प्रसन्न थे और सभी इसमे सोत्साह रस लिया करते थे, किन्तु एक बात सब को अखर रही थी । वह थी— ऐसी पुस्तक का अभाव, जिस मे जैनसिद्धान्तो पर प्रकाश डाला गया हो । जैनसिद्धान्तो का बोध कराने वाली पुस्तको के न होने के कारण तात्त्विक ज्ञान का प्राप्त करना कठिन ही नही, बल्कि असभव सा हो जाता है । यदि ऐसी पुस्तके हो तो प्रत्येक व्यक्ति उन को पढ सकता है । पढ कर उनसे लाभ उठा सकता है, दूसरो को भी उन के द्वारा प्रतिलाभित किया जा सकता है । आज श्रावको मे तात्त्विक ज्ञान का प्राय. अभाव सा हो गया है । किसी से कुछ पूछा जाए तो कोई उत्तर नही मिलता । जैन ईश्वर को मानते हैं या नही ? यदि मानते है तो किस रूप मे ? जैनदर्शन ईश्वर का स्वरूप क्या बतलाता है ? जैनधर्म आस्तिक है, या नास्तिक ? आदि कोई भी प्रश्न किसी जैन के सामने रखा जाए, तो वह कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही दे पाता है । आमतौर पर जैन गृहस्थो को यही कहते सुना है कि हमारे गुरु महाराज के पास चलो,

वे इन प्रश्नो का समाधान करेंगे। साराश यह है कि आज जैनो मे सैद्धान्तिक जानकारी की शोचनीय कमी हो गई है। इसके जहा अन्य अनेकों कारण हैं, वहा एक कारण साहित्य का अभाव भी है। जैन सिद्धान्तो को सुन्दर ढग से उपस्थित करने वाले सत्साहित्य की आज बहुत न्यूनता है। इस न्यूनता से जण्डियालागुरु के युवक भी खेदखिन्न थे। अन्त मे उन्होने मुझे इस दिशा मे प्रयत्न करने की जोरदार प्रेरणा की, और सानुरोध निवेदन किया कि जैनदर्शन के सैद्धान्तिक तथ्यो पर प्रकाश डालने वाली किसी पुस्तक की रचना अवश्य की जानी चाहिए। धर्मस्नेही श्री विद्यासागर जी (सुपुत्र सेठ खजाञ्ची लाल जी प्रो० श्री आत्माराम गण्डामल जैन, जण्डियाला गुरु) ने तो यहा तक कह दिया कि आप इस पुस्तक को तैयार करो मैं इसे प्रकाशित करवा दूगा। युवकों को इस बात में सामाजिकता थी, धार्मिक स्नेह था, और साहित्य के अभाव के कारण युवको मे हो रहे सैद्धान्तिक वोध के ह्रास के लिए समवेदना थी। मेरे भी मन मे आया, कि युवको की बात तो ठीक ही है। जब पाठ्य पुस्तक ही नही होगी, तब ये लोग सीखेंगे कहा से ? कैसे स्वाध्याय कर सकेंगे ? अन्त मे मैंने निश्चय कर लिया कि इस दिशा मे अवश्य यत्न करना चाहिए।

विहार मे लिखने-पढने का कार्य कठिन हो जाता है, तथापि मैंने पुस्तक को लिखना चालू कर दिया। धीरे-धीरे प्रयत्न चलता रहा। आखिरकार लुधियाना मे श्रद्धेय गुरुदेव, जैनधर्म-दिवाकर, आचार्यसम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों के प्रताप से मेरा यह प्रयत्न सफल

हो गया। "भगवान महावीर के ५ सिद्धान्त" इस नाम की एक पुस्तक तैयार हो गई है। यह है इस पुस्तक के लिखने की कहानी।

"भगवान महावीर के ५ सिद्धान्त" मे भगवान महावीर के मुख्य-मुख्य पांच सिद्धान्तो का विवरण दिया गया है। अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद, ईश्वरवाद और अपरिग्रह-वाद इन सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला गया है। लिखने को तो इन सिद्धान्तों को लेकर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु यहा पर केवल इन की झाकी ही प्रस्तुत की गई है। जितनी मेरी क्षमता है, जितना मेरा बौद्धिक बल है, पूज्य आचार्य-देव के पवित्र चरणों मे रहकर मैंने इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे जितना पढा है, तथा विद्वान लेखको की लिखी पुस्तको और उन के लेखो को पढ़कर जितना मैं समझ सका हू, उसी को आधार बना कर इन सिद्धान्तो पर कुछ प्रकाश डाला गया है। अत इन सिद्धान्तो को विशेष रूप से समझने के अभिलाषी पाठको को स्वतत्र रूप से जैनागमो का अध्ययन करना चाहिए। जेनागम इन्ही सिद्धान्तो की व्याख्या से भरे पड़े हैं। उन के स्वतंत्र अध्ययन से इन को भलीभान्ति समझा जा सकता है।

मैं मानता हूं कि मैं कोई सिद्धहस्त लेखक नहीं हूं, और मैं यह भी अच्छी तरह समझता हू कि अभी मै जैनदर्शन का विद्यार्थी हू, उसका किनारा मै ने प्राप्त नही किया है। अत. इस पुस्तक मे भाव, भाषा और शैली को लेकर अनेको त्रुटिया हो सकती हैं, भूलें हो सकती है। इसीलिए सहृदय पाठको से मैं सादर और सविनय प्रार्थना करता हू कि उन

के लिए मुझे क्षमा किया जाए और सम्सूचित कर दिया जाए ताकि भविष्य मे पुस्तक के द्वितीय सस्करण मे उन का सशोधन कर दिया जाए।

अन्त मे, उन विद्वान लेखको का मैं हृदय से आभार मानता हू, जिनकी लिखी पुस्तको से सहायता लेकर इस पुस्तक को लिखा गया है। तथा श्रद्धेय पण्डित-प्रवर श्री स्वामी हेमचन्द्र जी महाराज का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं, जिन्होने इस पुस्तक का सशोधन किया है, और पग-पग पर सहयोग देकर इस पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का अनुग्रह किया है।

जैनस्थानक, लुधियाना
२००७, भाद्रपद शुक्ला १५

—ज्ञानमुनि

—०—

पांच का महत्त्व

गणित विद्या मे पांच(५)का अंक विशेष महत्ता का स्वामी है। समस्त जगत मे पृथ्वी आदि पांच तत्त्वो का ही यह पसारा है। मानव शरीर भी उन्ही पाच तत्त्वो से निर्मित है। मानव शरीर की स्थिति का आधार भी पाच प्राण ही हैं। मनुष्य के सभी कार्य पाच ज्ञान तथा पांच कर्म-इन्द्रियो के द्वारा ही सम्पन्न होते है। इस ससार मे जो कुछ मानव द्वारा रचना हुई है, वह मानव के दोनों हाथो की पांच-पांच उङ्गलियों की ही कृपा से हुई है। पांच पाण्डवो ने एक सौ एक कौरवो को परास्त किया था। अत्याचार की निवृत्ति-अर्थ श्री गुरु गोविंद सिंह जी महाराज ने पांच प्यारो को ही चुना था। हिन्दू शास्त्र मानव कल्याण की साधना पाच महा यज्ञ ही वतलाते है। इस्लाम ने भी आत्म-कल्याणार्थ पाच निमाज़ों का विधान रखा है। सिख मत मे पांच कक्को अर्थात् केश, कृपान इत्यादि की वडी महत्ता दी है। पांचों मे परमेश्वर कहा गया है।

जैनधर्म के अहिंसा आदि पाच महा सिद्धान्त मानव के आत्मकल्याण की आधार-शिला हैं। जो प्राणी जितने भी अंश मे इन सिद्धान्तो को अपना जीवनाङ्गी वना लेगा वह उतना ही ईश्वर कोटि के निकटस्थ पहुच जायेगा।

पूज्य श्री ज्ञानमुनि जी महाराज ने इस पुस्तक मे अति

सरल तथा सुन्दर शैली से अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद ईश्वरवाद और अपरिग्रहवाद इन पांच सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इस महान परिश्रम के लिये श्री ज्ञानमुनि जी न केवल जैनसमाज अपितु समस्त मानव समाज के धन्यवाद के पात्र हैं।

लुधियाना
२३-९-१९५९

कांशीराम चावला

* * * * *

Wealth is lost, Nothing is lost,
Health is lost, Something is lost,
Character is lost, Everything is lost,

यदि जीवन मे धनका नाश हो जाय तो कोई चिन्ता की बात नहीं, धन और कमाया जा सकता है। यदि जीवन का स्वास्थ्य चला जाए तो कुछ हानि होती है क्योकि—

"शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्"

के अनुसार धर्म साधना के लिए शरीर का स्वास्थ्य अपेक्षित रहता हैं, किन्तु जीवन मे से यदि करैक्कटर चला जाए, सदाचार का देवता जीवन से रूठ जाए तो समझ ले, उसके जीवन का सर्वस्व नष्ट हो गया, कुछ भी उसके पल्ले नही रहने पाया।

* * * * *

लेखक की रचनाएं

१. विपाकसूत्र (हिन्दी विवेचन सहित) ६ • •
२. हैमशब्दानुशासन (प्रक्रियानुवाद सहित) प्रेस मे
३. आचार्य-सम्राट् (द्वितीय सस्करण) जैनधर्म-दिवाकर आचार्यदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज का सक्षिप्त जीवन चरित्र। ० १ •
४. सम्वत्सरी पर्व क्यों और कैसे ० २ ०
५. भगवान महावीर और विश्व-शान्ति (हिन्दी, उर्दू, पजाबी, अग्रेज़ी) ० २ ०
६. दीपमाला और भगवान महावीर ० ६ •
७. सत्य संगीत (भजन सग्रह) अप्राप्य
८. ज्ञान वाटिका (,,) ,,
९. ज्ञान गंगा (,,) हिन्दी, ० ३ •
,, ,, उर्दू ० २ ०
१० आत्मदर्शन (श्रावक प्रतिक्रमण) ० ४ •
११ मंगल पाठ (सस्कृतप्राकृत स्तोत्रों का सग्रह)
१२ नित्य नियम (वड़ा) ० ५ ०
१३ ,, (छोटा) ० २ ०
१४ नित्य पाठमाला (अप्राप्य)
१५. दीपक के अमर सदेश ० ६ ०
१६. आचार्य-प्रवर पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज
१७. सच्चा साधुत्व ० २ ०
१८. प्रश्नों के उत्तर (प्रेस मे)
१९. जीवन-झाकी (श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द जी महाराज का सक्षिप्त जीवन-परिचय)
२०. भगवान महावीर के पांच सिद्धान्त (आप के हाथ मे है) १ • •

कहां क्या है ?

१—अहिंसावाद

२—अनेकान्त-वाद

३—कर्मवाद

३—ईश्वर-वाद

५—अपरिग्रहवाद

* * * * *

स्याद्-वादो वर्तते यस्मिन्,
पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किञ्चित्,
जैनधर्मः स उच्यते ॥

महावीर के पांच सिद्धान्त

भारतीय दर्शनों मे जैन दर्शन का अपना एक मौलिक और विशिष्ट स्थान रहा है, अन्य दर्शनो की भांति जैनदर्शन ने भी दार्शनिक जगत में अपूर्व प्रतिष्ठा उपलब्ध की है। जैनदर्शन ने जो वस्तुतत्त्व हमारे सामने उपस्थित किया है, वह इतना उदार, प्रामाणिक, युक्तियुक्त, सार्थक और सुन्दर है कि प्रत्येक देश, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से उपादेय है। जैनदर्शन की उपादेयता, उपयोगिता, मगलकारिता और कल्याणकारिता में सन्देह को कहीं भी कोई अवकाश नहीं है।

जैनदर्शन मानव को मानवता का मगलमय पाठ पढ़ा कर उसे महामानव बनने की पवित्र प्रेरणा प्रदान करता आया है। समय-समय पर वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय तथा आध्यात्मिक जीवन के निर्माण, उत्थान एव कल्याण में जैनदर्शन ने अपना सहयोग अर्पित किया है। किसी भी आध्यात्मिक दृष्टि से जैनदर्शन मौन नहीं रहा है, उसने सदा मानव-जगत का अध्यात्म मार्गदर्शन किया है और उसके अन्धकार-पूर्ण मानसाकाश में ज्ञान का दिवाकर उदित करके उसके अन्धकार का सर्वतोमुखी विनाश किया है।

जैनधर्म के संस्थापक महामहिम भगवान ऋषभदेव थे। आध्यात्मिक महानद के मूलस्रोत यही महापुरुष माने जाते हैं। वैदिक ग्रन्थ भी इस महापुरुष की महिमा गाते नहीं थकते। जैनधर्म तो इन्हें प्रथम राजा, प्रथम साधु, प्रथम जिन और प्रथम तीर्थंकर स्वीकार करता है। इस युग मे जैनधर्म के महा-मन्दिर का पट सर्वप्रथम इसी

महापुरुष ने खोला था। इन के अनेकों नाम है। जिस समय ये गर्भ मे थे, उस समय देवताओं ने स्वर्ण की वृष्टि की थी, इस लिये इन्हे "हिरण्यगर्भ" भी कहते हैं। इन के समय में ही ग्राम, नगर आदि की सुव्यवस्था हुई, इन्होंने ही उस धर्म की स्थापना की, जिसका मूल अहिंसा है, इसी लिए इन्हे आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है। तथा प्रजा को असि (युद्धविधि), मषि (लेखनविधि), कृषि (खेती कर्म), शिल्प, वाणिज्य (व्यापार) और विद्या इन छह कर्मों से आजीविका करना सिखलाया, इसलिए ये प्रजापति भी कहलाते है। अहिंसा,सयम और तप इस धर्म त्रिवेणी का सर्वप्रथम प्रवाह इन्हीं महापुरुष के अन्तर मे छूटा था, इस लिए ये धर्म के आदिकर तथा आदिनाथ भी कहे गए है।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार भगवान ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। इनके पश्चात् अजितनाथ, संभवनाथ आदि अन्य तेईस तीर्थंकर हो गए हैं। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी थे। भगवान महावीर का जन्म आज से लगभग २५५६ वर्ष पूर्व इस पवित्र भारत वर्ष के विहार प्रान्त मे हुआ था। इनके पिता महाराज सिद्धार्थ थे, और माता महारानी त्रिशला। आपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और दिव्य आध्यात्मिक ज्योति से भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक क्रान्तिकारी युग का निर्माण करके धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रिय क्षेत्रों मे नव स्फूर्ति, नव उत्साह तथा नव जीवन का संचार किया था। अविवेक और अज्ञान के भीषण गर्त मे पड़े मानव को मानवता का आदर्श प्रकाश दिखला कर सत्य, अहिंसा के सुन्दर सिंहासन पर बिठलाया था, तथा दम तोड़ रही मानवता को जीवन का मधुर दान दिया था।

*भगवान महावीर का ज्ञान अनन्त था, उन के ज्ञान-वैभव का अन्त नहीं पाया जा सकता। प्रभु वीर का ज्ञान इतना सूक्ष्म और वि-शाल था कि उसका पार पाना सर्वथा असभव है। तथापि हम ने उसे यथाशक्ति समझना है और जीवन मे उसे उतारना है। भगवान महा-वीर के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को सक्षेप में हम पांच भागों मे बांट सकते हैं। और वे इस प्रकार है—

१- अहिंसावाद | २- अनेकान्तवाद
३- कर्मवाद | ४-ईश्वरवाद
५-अपरिग्रहवाद

इस पुस्तक में इन्हीं पांच सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जायगा। वैसे तो जैन शास्त्रों में इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। यदि सब को लिखने लगे तो एक विशालकाय ग्रन्थ बन सकता है। किन्तु प्रस्तुत मे हमें विस्तार में नहीं जाना है। सक्षेप मे ही उन का केवल कुछ परिचय कराना है। अत अधिक न लिख कर सामान्य रूप से ही इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ लिखा जायगा।

अहिसा--वाद :

आध्यात्मिक जगत में भगवती अहिंसा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। अहिंसा आध्यात्मिक साधना की प्राथमिक भूमिका है, उस की आधारशिला है। मानवजीवन का उज्ज्वल प्रकाश अहिंसा की अमर भावना मे ही निवास कर रहा है। †अहिंसा ही संसार रूप

---

*भगवान महावीर के जीवन—सम्बन्धी वृत्तान्तो तथा घटनाओ को जानने के लिए स्वतंत्र रूप से भगवान महावीर के जीवन-चरित्र का अध्ययन करना चाहिए।

†अहिंसैव हि संसार-मरावमृत-सारणि' । (योग शास्त्र)

विशाल रेगिस्तान मे अमृत का एक सुमधुर झरना है। *शरीर की सुंदरता, नीरोगता, सुखसामग्री और संपत्ति आदि ये सब अहिंसा के ही फल होते है। ‡अहिंसा ही सर्वोत्तम आत्मविकास रूप अवस्था है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा को आठ उपमाए दी गई हैं। वे इस प्रकार है —

जिस प्रकार भयभीत प्राणियों के लिए शरण का आधार होता है, इसी प्रकार संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियो के लिए अहिंसा आधारभूत है।

जिस प्रकार पक्षियों को गमन के लिए आकाश का आधार है, उसी प्रकार भव्य जीवों के लिए अहिंसा का आधार होता है।

प्यासे मनुष्य को जैसे जल का आधार होता है, उसी प्रकार सुखों की प्यास से पीड़ित मनुष्यों के लिए अहिंसा का आधार है।

भूखे मनुष्य को जैसे भोजन का आधार होता है, उसी प्रकार अध्यात्मविद्या की भूख से व्याकुल मनुष्य को अहिंसा का आधार है।

समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज का या नौका का आधार होता है, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में चक्कर खाते हुए भव्य प्राणियों को अहिंसा का आधार है।

जिस प्रकार पशु को खूटे का और रोगी को औषधि का आधार होता है उसी प्रकार भव्य प्राणियो को अहिंसा का आधार है।

जंगल में मार्ग भूले हुए पथिक को जिस प्रकार किसी के साथ का आधार होता है उसी प्रकार ससार मे कर्मों के वशीभूत हो कर

---

*रूप-मारोग्य-मैश्वर्य-महिंसा-फलम-श्नुते। (बृहस्पति स्मृति)

‡अहिंसा हि परम पदम्। (भागवत स्कध)

नाना गतियों में भ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के लिये अहिंसा का आधार होता है।

अहिंसा और सत्य के अग्रदूत भगवान महावीर ने—

"धम्मो *मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो"

यह कह कर अहिंसा को धर्म और सर्वश्रेष्ठ मंगल स्वीकार किया है। और साथ में—

"देवा† वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो"

य. प्रतिपादन कर अहिंसा की उच्चता, महत्ता, सफलता और लोकप्रियता को भी उन्होंने सहर्ष माना है। इसके अलावा पातञ्जल योगदर्शन में पतञ्जलि ऋषि ने भी अहिंसा को प्रेम का परम प्रतीक अंगीकार किया है। वे कहते हैं—

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।

(साधनापाद सूत्र ३५)

—जब योगी अहिंसा धर्म को अपने जीवन में धारण कर लेता है और पूर्णतया उस में उस की दृढ़ता हो जाती है, तब उसके समीपवर्ती प्राणियों का भी वैरभाव दूर हो जाता है। नकुल और सर्प में स्वाभाविक वैर है, यह बात आबालवृद्ध प्रसिद्ध है, पर अहिंसक महापुरुष का सान्निध्य पाकर वह भी निवृत्त हो जाता है। अहिंसा की छाया में नकुल और सर्प भी प्रेम के जीवित भंडार बन जाते है।

अहिंसा की महिमा महान है। किसी ने उसे धर्म के रूप में देखा है। कोई उसे मंगल के नाम से पुकारता है और किसी ने उसे शान्ति

*अहिंसा संयम और तप यह त्रिविध धर्म है, और उत्कृष्ट मंगल है।

† जिस हृदय में धर्म निवास करता है, देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।

का महापथ तथा आध्यात्मिकता का एक उज्ज्वल प्रतीक स्वीकार किया है।

हिंसा का अर्थ–

अहिंसा का प्रतिपक्ष हिंसा है। अहिंसा के स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हिंसा के स्वरूप को जान लेना चाहिए। स्वनामधन्य आचार्य उमास्वाति ने स्वनिर्मित श्री तत्त्वार्थसूत्र मे प्रमत्त योग के साथ किए गए प्राणवध को हिंसा कहा है.–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

(त० अ० ७ सूत्र ८)

आचार्यवर उमास्वाति ने हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूर्ण की है। उनमे प्रमत्तयोग प्रथम है और प्राणवध, यह दूसरा अंश है। राग द्वेष से पूर्ण व्यापार या जीवनगत असावधानता का नाम प्रमत्तयोग है। प्राणों का वध प्राणवध कहलाता है। इन दोनों मे प्रथम अश कारण रूप से है जबकि दूसरा कार्यरूप से। जिस हृदय में राग द्वेष की धारा प्रवाहित हो रही है, असावधानता का जहां सर्वतोमुखी प्रभाव है, प्रमाद जिसका नेतृत्व कर रहा है, उस हृदय द्वारा यदि किसी जीवन का अपहरण हो रहा है, उसे दुःख या पीड़ा पहुँचाई जा रही है, तो वहा हिंसा का जन्म होता है, हिंसा की डाकिनी वहां साकार रूप धारण कर लेती है। जिस प्राणवध में रागद्वेष नहीं है, किसी प्रकार की अन्य कोई क्षुद्रभावना भी नहीं है, तो वह प्राणवध प्राणों का नाशक होने पर भी हिंसा का रूप नहीं ले सकता।

जीवन में अनेकों बार ऐसे अवसर आते है कि हम किसी को बचाने या उसको सुख-आराम पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु

परिणाम उलटा होता है। बचाए जाने वाले को कष्ट होता है, वह कराह उठता है, कई बार तो उसके जीवन का भी अन्त हो जाता है। प्राणों के बचाने मे पूर्णतया सचेत और सतर्क डाक्टर के हाथों से रोगियों के हो रहे प्राणनाश की बात यदा-तदा सुनने में आती ही रहती है। किन्तु ऐसी स्थिति में वह प्राण-नाश हिंसा का रूप नहीं ले सकता. क्यों कि वहां भावना रोगी की सुरक्षा की है, उसे बचाने की है। रागद्वेष का वहा कोई चिन्ह भी नहीं है। अत वह हिंसा नहीं है। हिंसा वहीं होती है, जहां राग-द्वेष का भाव होता है और रागद्वेष की छाया तले जहां किसी के जीवन को लूटा जाता है। वस्तुत मन, वाणी, और शरीर से काम क्रोध मोह लोभ आदि दूषित मनो-वृत्तियों के साथ जब किसी प्राणी को शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार की हानि या पीड़ा पहुंचाई जाती है, तब उसे हिंसा कहा जाता है।

गुरु द्वारा किया गया शिष्यताडन देखने में भले ही हिंसा प्रतीत हो, किन्तु वहां भावना की सात्त्विकता के कारण उसे हिंसा का रूप नहीं दिया जा सकता। इसके अलावा अहित और अनिष्ट की बुद्धि से किसी को पिलाया गया गौ का दूध भी हिंसा का कारण बन जाता है। अत. हिंसा का मूल वैरभाव पूर्ण भावना है। जहा-जहा वैर-विरोध की भावना निवास करती है, वहा-वहां हिंसा की उत्पत्ति होती चली जाती है।

अहिसा का अर्थ—

हिंसा का अभाव अहिंसा है। अनुकम्पा, दया, करुणा, सहानु-भूति और समवेदना आदि अहिंसा के ही पर्यायवाची शब्द है। मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को शारीरिक, वाचिक और

मानसिक किसी भी प्रकार का कष्ट या क्लेश न पहुंचाने का नाम अहिंसा है। अहिंसा निवृत्तिरूप और प्रवृत्ति रूप होती है। अहिंसा का निवृत्ति रूप अर्थ है-किसी जीव की हिंसा न करना और उस का प्रवृत्ति रूप अर्थ मरते जीव की रक्षा करना होता है। अपने हाथों से या अन्य साधनों से किसी जीव को हानि न पहुंचाना भी अहिंसा है। किन्तु जो जीव मर रहे हैं, दम तोड़ रहे है, उन्हें बचाना भी अहिंसा ही। अहिंसा के दोनों रूपों को जीवन मे ले आना ही अहिंसा की पवित्र आराधना कहलाती है। भगवान शान्ति नाथ के जीव ने राजा मेघरथ के भव मे अपने शरीर का मांस देकर एक कबूतर के प्राणों का संरक्षण करके अहिंसा के प्रवृत्ति रूप अर्थ को अपनाया था। विवाह के उपलक्ष्य मे मारे जाने वाले पशुओं को बचाकर भगवान अरिष्टनेमि ने, नागनागिन के जोड़े की रक्षा करके भगवान पार्श्वनाथ ने तथा जल रहे गोशालक को जीवन का दान देकर भगवान महावीर ने अहिंसा भगवती के प्रवृत्ति रूप अर्थ की ही आराधना की थी।

अहिंसक जीवन के चमत्कार—

अहिंसा को अपनाने वाला व्यक्ति अहिंसक कहा जाता है। अहिंसक करुणा का छलछलाता हुआ एक विशाल सरोवर होता है। उसका मानस सदा दया के झूले पर झूलता रहता है। उसके यहां किसी का अनिष्ट नहीं होता। आकुलव्याकुल जीवों की वह रक्षा करता है। वहां निरन्तर मैत्री, स्नेह और सहानुभूति की धारा प्रवाहित रहा करती है। ईर्षा-द्वेष, वैर-विरोध, संकीर्णता और असहिष्णुता आदि विकारों का सर्वनाश हो जाता है। अहिंसक जीवन जहां कहीं भी होता है, संसार उसे प्रकाशस्तंभ के रूप मे देखता है। अहिंसक जीवन एक निराला ही जीवन बन जाता है, उसका प्रत्येक पग संसार को

उन्नति और अभिवृद्धि के लिए उठा करता है। उस के रोम रोम से-

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभो न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नए मंगल गावे॥

यही अमर स्वर गूंजता रहता है। ससार का हित और कल्याण ही उसकी साधना होती है। अहिंसक जीवन जगत को सदा सुखी, निरापद और आध्यात्मिकता के समुच्च शिखर पर विराजमान देखना चाहता है।

अहिसा की लोकप्रियता–

अहिंमा का सिद्धान इतना लोकप्रिय सिद्धांत रहा है कि कुछ कहते नहीं बनता। संसार के सभी दर्शनशास्त्रों ने इसका स्वागत किया है। जैन दर्शन का तो कण-कण ही अहिंसा की आराधना कर रहा है। जैन दर्शन मे ऐसा कोई, विधिविधान नहीं है, जहां अहिंसा के दर्शन न हों। जैनसाधु के पांच महाव्रतों और श्रावक के पांच अणुव्रतों में सर्वप्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत और अहिंसा अणुव्रत को प्राप्त है। श्री स्थानाग सूत्र मे नरकगति मे जाने के– १ महा आरभ–हिंसा, २ महापरिग्रह-लोभ, ३ पञ्चेन्द्रिय प्राणी का वध, और ४ मासाहार करना, ये चार कारण माने हैं। इन में सर्वप्रथम कारण अहिंसा का अनादर है। सूत्रकृतांग अध्याय १ उद्देश ४ तथा गाथा ७ मे लिखा है–

"सव्वे अक्कांतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया"

अर्थात्-सब प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है, अतः किसी भी प्राणी की हिंमा नहीं करनी चाहिए।

जैनेतर धर्मशास्त्र ऋग्वेद मे लिखा है -

"नकिर्देवा सिनीमसी न किरा योपयामसि"

अर्थात्-हम न किसी को मारें और न किसी को धोखा दें।

भगवद्गीता के अध्याय १२ और श्लोक १५ में लिखा है-

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः"

अर्थात्—जो मनुष्य किसी को दुःख नहीं देता है और न किसी से दुःखी होता है, वही ईश्वर का प्यारा होता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत !

सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥

अर्थात्—प्राणियों की दया जो फल देती है, वह चारों वेद भी नहीं दे सकते, समस्त यज्ञ भी नहीं दे सकते और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते।

बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद (१६-१५) में लिखा है—

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।

अहिंसा सब्बपाणाणं अरियोत्ति पवुच्चति ॥

अर्थात्—जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता है, वह आर्य या भला पुरुष नहीं होता। आर्य कहलाने का वही अधिकारी होता है जो दूसरों को कष्ट नहीं देता तथा सब प्राणियों के प्रति दयाभाव रखता है।

कबीर जी जीवहत्या का बड़े कड़े शब्दों में विरोध करते हुए कहते हैं—

तिल भर मछली खायके, करोड़ गऊ करे दान।

काशी करवत ले मरें, तो भी नरक निदान ॥

मुसलमान मारें करद से, हिन्दू मारे तलवार।

कहें कबीर दोनों मिली जाएं यम के द्वार ॥

सिक्खों के धर्म-मान्य ग्रन्थसाहिब में लिखा है –

भंग माछली सुरापान जो जो प्राणी खाए।
धर्म नियम जितने किये सभी रसातल जाए॥
जे रत्त लागे कापड़े जामा होए पलीत।
जो रत्त पीवे मानुषा तिन क्यों निर्मल चीत॥

अहिंसा के चरणों में अपने श्रद्धापुष्प अर्पित करते हुए शेख सादी कहते हैं —

खुदा रा बर आं बन्दा, बख्शाइश अस्त।
कि खल्क अज़ वजूदश दर आसाइश अस्त॥

अर्थात्- खुदा उसी पुरुष को कृतकृत्य करता है, जिसके हाथों से किसी भी जीव को हानि नहीं पहुँचने पाती।

एक फारसी का कवि कितनी सुन्दर बात कहता है —

हज़ार गंजे कनाअत, हज़ार गंजे करम।
हजार इताअत शबहा, हज़ार बेदारी॥
हज़ार सिजदा बहर सिजदा रा हजार नमाज।
क़बूल नेस्त गर खातरें बयाजारी॥

अर्थात्-चाहे मनुष्य धैर्य में उच्च श्रेणी का हो, हज़ार खज़ाने प्रतिदिन दान करता हो, हज़ारों रातें भक्ति में व्यतीत करता हो, हज़ार सिजदे (नमस्कार) करता हो और हर सिजदे के साथ हजार-हज़ार नमाज पढ़ता हो तो यह सब पुण्यक्रियाएं व्यर्थ ही होंगी, यदि वह पुरुष किसी को कष्ट देता है।

इस के इलावा पाश्चात्य दर्शन भी —

*Thau shall not kill. यह कह कर भगवतीअहिंसा को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। वस्तुत अहिंसा की महिमा अपरम्पार है, इसका पार नहीं पाया जा सकता।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है—

जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है। "अहिंसा परम धर्म है" यह महावाक्य जैनधर्म का प्राण माना जाता है। जैन धर्म इसी प्राण-शक्ति से जीवित है। अन्यथा जैनधर्म का अपना स्वरूप ही समाप्त हो जाता है। जैनधर्म की घोषणा है—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया ॥

(सूत्रकृतांग अ० ११-१० उ० १)

अर्थात्–किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। अहिंसा सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है, केवल विज्ञान इतना ही है।

प्रश्न हो सकता है कि अहिंसा की बात तो प्रत्येक धर्म में मिल जाती है फिर जैनधर्म की इस मे क्या विशेषता है? इस का उत्तर निम्नोक्त पंक्तियों में पढ़िए—

यह सत्य है कि दूसरे धर्मों में भी भगवती अहिंसा की महिमा पाई जाती है, परन्तु अहिंसा पर जितना बल जैनधर्म ने दिया है उतना किसी अन्य धर्म ने नहीं दिया है। जैनधर्म ने अहिंसा के विषय में जितना विशद और सूक्ष्म चिन्तन, मन्थन आध्यात्मिक

---

*तुझे किसी जीव को नहीं मारना चाहिए। यह ईसा की १० आज्ञाओं में से एक आज्ञा है।

जगत के सामने रखा है, उतना हमें कहीं भी प्राप्त नहीं होता। जैन-धर्म का तो मूलाधार ही अहिंसा है, वहां हिंसा को जरा भी स्थान नहीं है। किन्तु दूसरे धर्मों में धर्म के नाम पर हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। एक दिन यज्ञवादियों ने—

"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति"

यह कह कर हिंसा पर अहिंसा का रंग चढ़ाने का प्रयत्न किया था और स्पष्ट रूप से हिंसा की प्रतिष्ठा की थी। अहिंसा-वादियों की ओर से जब यज्ञ में होने वाली पशु-हिंसा का विरोध किया गया तो यज्ञवादियों ने—

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः"

यह कह कर हिंसा का खुल्लम-खुला समर्थन किया था और उसे शास्त्रीय बतला कर आदरणीय बतलाया था। मनुस्मृति उठा कर देख लीजिए। वहां श्राद्ध के नाम पर हिंसा का स्पष्ट विधान पाया जाता है। श्राद्ध में अमुक पशु के मांस से अमुक पितर इतने समय तक तृप्त रहता है, अमुक पितर इतने समय तक, इस प्रकार के* अनेकों मन्तव्य आप को वहां मिल सकते हैं। परन्तु जैनधर्म के विधि-विधानों में और धार्मिक अनुष्ठानों में आप को कहीं भी हिंसा के दर्शन नहीं होंगे। अहिंसा के नाम पर हिंसा की बात आप को कहीं

---

*द्वौ-मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनाथ पञ्च वै॥
षण्मासान् छागमांसेन, पार्षतेन च सप्त वै
अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवेण नवैव तु॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराह-महिषामिषैः।

भी जैनधर्म मे प्राप्त नहीं हो सकती है। इसके अलावा, जैनधर्म पृथ्वी में, जल में, वायु में, अग्नि में, वनस्पति आदि में जीवों की सत्ता मान कर उन की यथाशक्य संरक्षा का दृढ़ता के साथ विधान करता है। स्थानकवासी साधु वायुकायिक जीवों के संरक्षण के लिए ही मुख पर मुखवस्त्रिका का सदा प्रयोग करता है। परन्तु जैनेतर धर्मों मे ऐसे अहिंसक विधानों को कोई स्थान नहीं है। अहिंसा के विषय में जैन-धर्म की सूक्ष्मता, व्यापकता, यथार्थता तथा विशेषता दूसरा कौन पकड़ सका है? इसीलिए अहिंसा को जैनधर्म का प्राण कहना सर्वथा युक्तियुक्त तथा शास्त्रीय है।

अहिंसा एक यज्ञ है-

अहिंसा को यज्ञ भी कहा जा सकता है। इस यज्ञ में यह विशेषता है कि इसमे अग्नि की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें केवल तपस्या की आग जलानी पड़ती है। पृथ्वी को खोदकर कुण्ड बनाने का भी इस मे कोई प्रयोजन नहीं होता। अहिंसा के महायज्ञ मे जीवात्मा ही अग्नि-

---

शशकूर्मयोस्तु मांसेन, मासानेकदशैव तु ॥
सम्वत्सरं त गव्येन, पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन, तृप्तिर्द्वादश वार्षिकी ॥

(मनु० अ० 3/२६८-२६९-२७०-२७१)

अर्थात्—मत्स्य के मांस से दो मास, हिरण से तीन मास, मेढे से चार, पक्षियों से पांच, बकरे से छः, चितकबरे हिरण से सात, काले मृग से आठ, रुरु मृग से नौ, सूअर और भैंसे से दस, खरगोश और कछुए से ग्यारह, गौ के दूध से १ वर्ष, सफेद और पुराने बकरे के मांस से १२ वर्ष तक पितर तृप्त रहते हैं।

कुण्ड है। लकड़ी से बनी कड़छी की भी कोई जरूरत नहीं पड़ती। मन वचन और काया की प्रवृत्ति ही उस का काम दे डालती है। ईन्धन जलाकर लकड़ियों को कोयला तथा भस्म बनाने की यहा कोई आवश्यकता नहीं होती है। अपने पापकर्मों को ही इस में जलाना होता है। यही अहिंसक यज्ञ है। इस की आराधना तथा उपासना से जीवन दुःखों से सदा के लिए छूट जाता है।

अहिंसा एक जलाशय है-

अहिंसा एक पवित्र जलाशय है,सरोवर है। इसमें विशेषता यह है कि यह जीवन के अन्तरग मल का परिहार करता है, अन्तरात्मा को पवित्र बना डालता है। इसमे स्नान करने से आत्मा निर्मलता तथा स्वस्थता को प्राप्त कर लेती है। अहिंसास्नान के आगे जलस्नान का कोई मूल्य नहीं है। प्रात. साय पानी में डुबकियां लगाने से यदि जीवन पवित्र बन सकता होता, मुक्ति के पट खुल जाते होते तो सर्व-प्रथम जल में सदा रहने वाले मच्छ, कच्छप आदि जीव कभी के मुक्त हो गए होते। जलीय तथा जलचर जीवों का मुक्त न होना ही इस बात का प्रमाण है कि जलस्नान से जीवन निष्पाप या मुक्त नहीं हो सकता है। जीवन की पवित्रता का वास्तविक साधन तो अहिंसा-रूप सरोवर है। विशुद्ध मन, वाणी और कर्म से उसमे स्नान करने से जीवन सर्वथा निष्पाप हो जाता है। उस के समस्त पाप धुल जाते है।

अहिंसा प्रेम है, राग नहीं-

अहिंसा प्रेम है,इसे राग का रूप नहीं दिया जासकता। प्रेम और राग ये दो शब्द हैं। प्रेम गुणों मे होता है, राग भौतिक पदार्थों से होता है। राग तीन प्रकार का माना गया है-काम, स्नेह और दृष्टि। कामराग

स्त्री से, पुत्र से, सांसारिक विषयों से होता है। स्नेहराग माता, पिता भाई बन्धु से किया जाता है। अपने पक्ष का स्नेह या अपने मत का प्यार दृष्टिराग कहलाता है। अठारह पापों में राग को एक पाप स्वीकार किया गया है जब कि प्रेम जीवन का एक अध्यात्म गुण है। राग जीवनोन्नति में बाधक है, प्रेम उसमें साधक है। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी के राग ने ही उन्हे केवल ज्ञान के प्रकाश मे वञ्चित कर दिया था। अत राग हेय है और प्रेम उपादेय है। अहिंसा विश्वप्रेम का ही ज्वलन्त प्रतीक है। प्रेम कहो या 'अहिंसा एक ही बात है।

अहिंसा और कायरता—

कुछ लोग अहिंसा को कायरता समझ बैठे हैं। उन्हें यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि अहिंसा ने मानव को बुजदिली का पाठ पढ़ाया है। उनका कहना है कि व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को नपुंसक बनाने वाली अहिंसा है। उनके विचारों मे भारत को पराधीन बनाने वाली भी अहिंसा ही है किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मालूम होता है कि इन लोगों ने अहिंसा को समझा ही नहीं है। अहिंसा को कायरता का रूप देना एक बहुत बड़ी भूल है। क्योंकि अहिंसा और कायरता का दिन रात का सा विरोध है। भारत के प्राचीन इतिहास तो यह साबित करता है, कि जब तक इस देश में अहिंसा के उपासक शासकों का राज्य बना रहा, तब तक यहां की प्रजा में शौर्य और पराक्रम की तनिक भी कमी नहीं रही। उन शासकों ने अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए शक्तिशाली शत्रुओं के साथ वीरतापूर्ण युद्ध किए और कभी भी उन्होंने कायरता से सिर नहीं झुकाया। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक अहिंसा धर्म के नाम से

बड़े उपासक और प्रचारक थे किन्तु उनके शासनकाल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। बल्कि भारत की जितनी विशाल सीमाएं उस काल में थीं, उतनी कभी नहीं रहीं और निकट भविष्य मे होने की संभावना भी नहीं की जा सकती।

इस के अलावा एक बात और जान लेनी चाहिए कि जैन-शास्त्रो मे हिंसा के चार प्रकार लिखे है—सकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। जानबूझ कर मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना सकल्पी हिंसा है। चौके, चूल्हे आदि के काम-धन्धों मे जो हिंसा होती है, वह आरभी हिंसा कहलाती है। खेती बाडी व्यापार तथा अन्य उद्योग करते हुए जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा कही जाती है। शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए, अन्याय अनीति और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए जो युद्ध लड़े जाते हैं, उन में जो हिंसा होती है, उस हिंसा का नाम विरोधी हिंसा है। जैन गृहस्थ इस चतुर्विध हिंसा में से केवल सकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। मारने की इच्छा से जो निरपराध प्राणी की हिंसा की जाती है, उसे वह सदा के लिए छोड़ देता है, किन्तु देश जाति की रक्षा के लिए आततायी लोगों से जो मोर्चा लेना पडता है, उस मे जो हिंसा होती है, उस का त्याग उसे नहीं होता है। जैन-धर्म को अपनाने वाला कोई भी जैन गृहस्थ यदि शत्रुओ का दमन करता है। देश, जाति और धर्म के हत्यारों के साथ दो हाथ करता है, तो ऐसा करता हुआ भी वह अपने धर्म से च्युत नहीं होता। क्यो-कि धर्म ग्रहण करते समय उसने विरोधी हिंसा का परित्याग ही नहीं किया है।

अहिंसा को कायरता का प्रतीक समझने वाले लोगो को महात्मा गाधी का जीवन देखना चाहिए। गाधी जी अहिंसा के उपासक थे।

क्या कोई कह सकता है कि उन में कायरता थी ? गांधी जी ने अहिंसा की महाशक्ति द्वारा शक्तिशाली ब्रटिश सरकार का डट कर सामना किया और रक्त की एक बूंद बहाए बिना उसके पैर उखाड दिए। सैकडो वर्षों की भारत की दासता को अहिंसा के ही प्रताप से समाप्त किया गया है। स्वयं गांधी जी कहा करते थे कि मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता को इस में कोई स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा तो की जा सकती है, किन्तु कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता।

सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक तथा अतिक्रूर पशुओं से आकीर्ण वनों में अकेले भ्रमण करना, और ऐसे भीषण जंगलों में आत्म-साधना करना क्या बच्चों का खेल है ? आज के वीर कहे जाने वाले व्यक्ति तो सिंह की आकृति मात्र देखने से दम तोड़ बैठते हैं, पर भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, स्वामी रामतीर्थ आदि उन अहिंसकों की निर्भयता देखिए, जो अकेले वनों में घूमते रहे। सिंहों और व्याघ्रों के भीषण चिंघाड़ो से भी जरा भयभीत नहीं होने पाए। वस्तुत अहिंसा वीरता का पावन स्रोत है और हिंसक भावनाओं को मिटाने में एक अपूर्व चमत्कार लिए हुए है। हिंसक से हिंसक पशु भी अहिंसक योगी के सामने आते ही वैरभाव छोड़ देता है। अहिंसा की इस सत्यता को भारत के महान सन्त पतंजल ऋषि ने—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग."

इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

रही भारत को पराधीन बनाने की बात, इस के सम्बन्ध में तो इतना ही निवेदन है कि भारत को पराधीन अहिंसा ने नहीं बनाया, बल्कि भारतीयों की फूट ने ही इन्हे पराधीन बना डाला है। पृथ्वी-

राज चौहान और जयचंद यदि आपस में न लड़ते और पृथ्वीराज को पराजित करने के लिए यदि जयचंद शहाबुद्दीन गौरी को निमन्त्रित न करता तो भारत कभी पराधीन नहीं हो सकता था। जयचंद ने स्वय उस यवन बादशाह को बुलाया और उसके साथ मिल कर पृथ्वीराज को हराया और अन्त में भारत को दासता की बेडियों में जकड़ाया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इसे किसी भी तरह झुठलाया नहीं जा सकता। अत भारत की पराधीनता का कारण अहिंसा नहीं कहा जा सकता। उस का कारण तो अपने घर की फूट ही है।

अहिंसा के दो रूप-

अहिंसा को महाव्रत और अणुव्रत भी कहा जाता है। अहिंसा जब पूर्णरूप से ग्रहण कर ली जाती है मन, वाणी और काया से पूर्णतया उसे अपनाया जाता है तब वह महाव्रत कहलाती है, किन्तु जब उसे आंशिक रूप से धारण किया जाता है, कुछ छूटों के साथ अपनाया जाता है। तब वह अणुव्रत कही जाती है। जैन साधु मन, वाणी और शरीर से हिंसा का सर्वथा परित्याग कर के मन, वाणी और शरीर से अहिंसा को धारण करता है, इसलिए उस की अहिंसा महाव्रत अहिंसा है। किन्तु श्रावक साधु जैसी पूर्ण अहिंसा को नहीं धारण करता। उसे आंशिक रूप से अपनाता है, इसलिए उसकी अहिंसा अणुव्रत अहिंसा कहलाती है।

गृहस्थ पर अनेकों उत्तरदायित्व हैं, उसे अपने परिवार का पालन-पोषण करना होता है, सामाजिक वातावरण से निपटना पड़ता है। उसे बच्चों का विवाह करना है, मकान बनाने हैं, देश जाति की रक्षा के लिए आततायी और विरोधी लोगों का सामना करना है, उस के संरक्षण और सम्वर्धन योग्य साधन जुटाने हैं, इस के अलावा

जीवन-निर्वाह के लिए अन्य अनेकों व्यवसाय करने हैं, अत वह अहिंसा को पूर्ण रूप से जीवन में उतार नहीं सकता । साधु की भांति कनक कामिनी का सर्वथा त्यागी नहीं बन सकता है। इसलिए वह केवल निरपराधी त्रस (इधर उधर आने जाने वाले) जीवों की हिंसा का त्याग करता है। गृहस्थ की इसी अहिंसावृत्ति का नाम शास्त्रीय भापा में अणुव्रत अहिंसा है।

अहिंसा की उपयोगिता—

भगवान महावीर के युग में जो धार्मिक अनुष्ठान किए जाते थे, उन मे मुख्य यज्ञ था। यज्ञों मे वेद मंत्रो द्वारा अत्यधिक मात्रा में हिंसा होती थी। पशुवध के विना यज्ञ पूर्ण नहीं होते थे। यज्ञों में घोड़ों, गौओं और मनुष्यों की वलि दी जाती थी। देवी-देवताओं के नाम पर अन्य अनेक प्रकार के पशुओं को मौत के घाट उतार दिया जाता था। इस पर भी उसे धर्म का रूप दिया जाता था। मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक २२–३९–४४ में लिखा है—

"यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः, प्रशस्ता मृगपक्षिणः"

अर्थात्—ब्राह्मण को प्रशस्त पशु और पक्षियों का यज्ञ के लिए वध करना चाहिए।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवध. ॥

अर्थात्—सव यज्ञों के ऐश्वर्य के लिए स्वयं ब्रह्मा ने पशुओं को यज्ञ के लिए ही वनाया है। अतः यज्ञ में होने वाली हिंसा भी अहिंसा ही है।

या वेदविहिता हिंसा, नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्या-द्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

अर्थात्--इस चराचर जगत मे वेदविहित हिसा को अहिंसा ही समझना चाहिए, क्योंकि वेद से ही धर्म का निर्णय होता है।

इस प्रकार यज्ञों के नाम पर हिसा की प्रतिष्ठा चल रही थी। भगवान महावीर को सर्वप्रथम इसी यज्ञहिसा से लोहा लेना पड़ा था। भगवान ने इस यज्ञहिंसा का प्रबल विरोध किया, इसे पाप बतलाया और कहा–हिंसा हिंसा है, चाहे वह यज्ञ के नाम पर हो, चाहे वह किसी धर्मग्रन्थ को माध्यम बना कर की जाए। भगवान ने डंके की चोट से फरमाया कि स्वार्थवश किए गए किसी के जीवन के विनाश को अहिंसा का रूप नहीं दिया जा सकता। हिंसा आग है, फिर वह अपने घर की हो या पडौसी के घर की। आग का स्वभाव जलाना है। वह जहां भी होगी, वहीं जलाएगी। इसी प्रकार हिंसा की आग जहा जलती है वहां अहिंसा का पौधा जीवित नहीं रह सकता। अत. मानव को हिंसा से सदा बचना चाहिए और अहिंसा को अपने जीवन का साथी बनाना चाहिए।

इस के अलावा विश्व के *सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नहीं चाहता, दु ख और वेदना सभी को अप्रिय है। इसलिए भी किसी को दुःख नहीं देना चाहिए। दूसरों को सता कर प्राप्त किया गया सुख सच्चा सुख नहीं हो सकता। क्योंकि यदि व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरों को सताता है तो समय पाकर दूसरा व्यक्ति भी पहले व्यक्ति को सताएगा। इसी प्रकार यदि हिंसाजन्य सुख को प्राप्त करने का सिद्धान्त पनप उठे तो एक दिन सभी जीव दु खी हो जाएगे,

---

*सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा जीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।

(आचारांग सूत्र, अ० २, उ० ३, सू० ८७)

ढूण्ढने पर भी संसार में कोई सुखी नहीं मिलेगा। इसीलिए भगवान महावीर ने हिंसा का विरोध किया और अहिंसा की प्रतिष्ठा करते हुए उपदेश दिया—

सुख सब को अनुकूल है, दुःख सब को प्रतिकूल।
दयाधर्म है इसलिए, सब धर्मों का मूल ॥

जीवन और अहिंसा—

अहिंसा सदा से सुखों का स्रोत रही है, इसकी आराधना से मानव ने लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की सुखशान्ति प्राप्त की है। आज भी अहिंसा में वही शक्ति है। आज भी अहिंसा मानव के क्लेशों और कष्टों का अन्त ला सकती है किन्तु यह तभी हो सकेगा जब अहिंसा का आदर किया जायगा उसे जीवन में उतारा जायगा, उसकी आराधना में तन मन अर्पित कर दिया जायगा। पर आज अहिंसा की जो दुर्दशा हो रही है, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। जिस अहिंसा का जन्म ही हिंसा की आग पर पानी डालने के लिए हुआ था, आज स्वार्थी मनुष्य उसी का वेष पहन कर जनमानस में आग लगाने का यत्न करता है, और तो और, संसार को सुखशान्ति का महापथ दिखलाने वाला त्यागी वर्ग भी आज भटका फिरता है। सत्य अहिंसा का महापाठ पढ़ाने वाला साधुसमाज भी आज हिंसा का शिकार हो रहा है। आज साधुओं में लड़ाइए होती है, क्लेश होते है, एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए साधु महात्मा भी किञ्चित् सकोच नहीं करने पाते, तभी तो पण्डित नेहरु ने कहा था कि भारत के ५६ लाख साधुओं में मुश्किल से हजार साधु साधुता के धनी होंगे। वास्तव में अहिंसा की महत्ता बाते बनाने से कायम नहीं की जा सकती वह तो उसे जीवन में उतारने से होती है।

अहिंसा धर्म के जयनादों से, उसे जीवन में न ला कर, केवल उस की दुहाई देते रहने से अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अहिंसा को जीवनोपयोगी न बना कर मात्र उस की दुहाई देते रहने से तो अहिंसा बदनाम होती है और जनमानस में इसके लिए अश्रद्धा एवं अरुचि पैदा होती है। इस बात की पुष्टि गांधी जी के एक भाषण द्वारा हो जाता है, जिस में उन्हों ने कहा था कि जब मैं अहमदाबाद में था, तब वहा के काकरिया तालाब का पानी सूख जाने से जैनी लोग मछलियों को पानी पिलाने जाते थे और कई बार मैं देखता हूँ कि दयाधर्मी चींटियों को आटा डालने जाते हैं। दूसरी तरफ उन का जीवन देखें तो मछलियों को पानी पिलाने वाले अपने पड़ौसी की तरफ, वह भूखा है या बीमार है, कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। मछलियों को पानी पिलाने वाले सट्टा और व्याज आदि के धन्धों द्वारा मानव का खून पी जाने में तनिक भी हिचकचाते नहीं हैं। चींटियों को आटा डालने वाले दूसरी ओर विधवा की धरोहर को अजगर की भांति निगल जाते हैं। यह सब देख कर मुझे आश्चर्य होता है कि जैनियों की अहिंसा कैसी है ?

जैनधर्म की अहिंसा महान है। देश, जाति और परिवार के जीवन निर्माण के लिए वह एक वरदान के रूप में हमारे सामने आती है तथापि गान्धी जैसे युगपुरुष के मानस में जो भ्रान्त धारणा बन गई है उस का उत्तरदायित्व उन लोगों पर है, जो "अहिंसा धर्म की जय हो" ये नारे तो लगाते हैं किन्तु अपने जीवन का एक कण भी उससे छूने नहीं देते। वस्तुत जैन अहिंसा की लोकप्रियता और मार्मिकता से अनभिज्ञ और यथार्थ रूप से उसे जीवन में न लाने वाले लोगों के दिखावटी कारनामों से अहिंसा की यह दुरवस्था हुई है और हो

रही है ।

अहमदाबाद के लोगों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने जो जिक्र किया है उसके सम्बन्ध में मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। जैनदर्शन का जहां तक मैंने अध्ययन किया है, उसके आधार पर मैं तो इतना ही कह सकता हू कि अहमदाबाद के लोगों की अहिंसा जैनदर्शन की अहिंसा नहीं है। जैनदर्शन में ऐसी पंगु और अन्धी अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। यह सत्य है कि जैनदर्शन चींटियों और मछलियों की रक्षा की प्रेरणा अवश्य करता है किन्तु वह चींटियों और मछलियों के साथ-साथ मानव-जीवन की रक्षा को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान करता है। मानव-जीवन को जैनदर्शन ने सर्वोपरि स्थान दिया है। एकेन्द्रिय जीवन की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवन की रक्षा सर्वप्रथम है। यही जैनत्व है, यही जैन-सस्कृति का अमर स्वर है। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी विधवाओं की धरोहर को अजगर की तरह निगल जाने वाले लोगो को भले ही जैनी कहें किन्तु जैनदर्शन उन्हे जैन नहीं कहता। ऐसे लोगों का जीवन जैनत्व से कोसो दूर है। ऐसे लोगों को जैनी नहीं कहा जा सकता। मै तो कहता हूँ कि ऐसे लोग अपने को जैनी कह कर जैनत्व को लाञ्छित करते हैं। जैनदर्शन को बदनाम करते हैं। ऐसे लोगों को चाहिए कि अपने को जैन न कहे, अपने को जैन कह कर लोगों की आंखों में धूल न झोंके। उन्हें चाहिए कि अपने ऊपर जैनत्व का लेबल न रखें। विष की शीशी पर अमृत का लेबल नहीं रहना चाहिए।

आज अहिंसा के सप्ताह अवश्य मना लिए जाते हैं, किन्तु हृदयों में वैरविरोध की आग निरन्तर जलती रहती है। कहिए, ऐसे कोरे अहिंसा-सप्ताहों से मानव जगत को कभी सुख शान्ति का लाभ

प्राप्त हो सकता ? कदापि नहीं। अतः जीवन और अहिंसा इन दोनों को मिल कर रहना चाहिए। इन दोनों का सामंजस्य ही मानव-जीवन की सफलता का अपूर्व महापथ है। यदि अहिंसा पूर्व दिशा की ओर जाने को कहती है, किन्तु जीवन पश्चिम दिशा की ओर बढ़ रहा है, तब बात नहीं बन सकती, ऐसी दशा मे दुःखों का नाश नहीं होगा। जो जीवन अहिंसा को साथ लेकर आगे बढ़ता है, एक पग भी अहिंसा को पीछे जाने नहीं देता, वही जीवन अपने लक्ष्य को पा सकता है और ऐसा ही जीवन ऐहलौकिक और पारलौकिक दुःखों का सर्वनाश कर के मुक्ति के अखण्ड सुख-साम्राज्य को उपलब्ध करने मे सफल हो सकता है।

अहिंसा और मांसाहार-

मांसाहार की उत्पत्ति हिंसा से होती है। हिंसा के बिना मांसाहार का निष्पादन नहीं हो सकता। मांसाहार में पशु-पक्षियों की हिंसा स्पष्ट रूप से पाई जाती है, अतः मांसाहार के साथ अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट कर देता है, उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना डालता है। आप ही सोच लें कि मांस किसी खेत में पैदा नहीं होता, वृक्षों पर नहीं लगता, ज़मीन से नहीं निकलता, आकाश से भी नहीं बरसता। वह तो चलते फिरते जीवित प्राणियों को मार कर उन के शरीर से प्राप्त किया जाता है। इस के अलावा, वधिक जब चमचमाता हुआ छुरा लेकर पशु पक्षियों के जीवनों पर प्रहार करता है, क्रूरता के साथ उन के जीवनों का अन्त कर देता है। वह दृश्य कितना भयंकर और लोमहर्षक होता है ? सहृदय व्यक्ति तो उसे देख भी नहीं सकता। ऐसे हिंसापूर्ण, क्रूरतम मांसाहार के साथ अहिंसा का

क्या सम्बन्ध हो सकता है? अहिंसा ऐसे नीच और पशुता-पूर्ण कृत्यों से सदा दूर रहती है। वहां किसी प्राणी को मार डालना तो दूर, कष्ट पहुंचाना, हानिकारक, घातक तथा कठोर भाषा का प्रयोग करना भी निषिद्ध है। अहिंसा की छाया तले किसी को कोई दुःख प्राप्त नहीं हो सकता। अहिंसा के साम्राज्य में मनुष्य, पशु संसार के समस्त जीव सानन्द रहते हैं, किसी को किसी से किसी भी प्रकार का कोई भय नहीं होने पाता है। शेर, बकरी एक घाट पानी पीते हैं। सर्प और नकुल परस्पर आंख-मिचौनी करते हैं, वैरभाव भूल जाते हैं। अहिंसा की महिमा का क्या वर्णन किया जाए? उस का पार नहीं पाया जा सकता।

कहा जा सकता है कि शाकाहार में भी जीव-हत्या होती है, और मांसाहार में भी, फिर हिंसा को लेकर मांसाहार और शाकाहार दोनों बराबर ठहरते हैं। ऐसी दशा में एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त क्यों? इसके उत्तर में निवेदन है कि मांसाहार और शाकाहार दोनों को बराबर नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि गेहूँ आदि शाक की बुनियाद आत्री और बकरे आदि पशु की बुनियाद पेशार्बी है। शाक में अव्यक्त चेतना वाला जीव है, और बकरे में व्यक्त चेतना वाला प्राणी है। बकरे को मारने वाले के भाव प्रत्यक्षतः क्रूर, निर्दय और कठोर होते हैं, जबकि गेहूँ पीसने वाले के ऐसे नहीं होते। अतः मांसाहार की शाकाहार के साथ कोई तुलना नहीं की जा सकती। मांस जैसी अपवित्र, घृणित और तामसी वस्तु, सात्त्विक शाकाहार के बराबर कैसे ठहराई जा सकती है?

शाकाहार और मांसाहार का अन्तर और इन का अपना-अपना अलग प्रभाव देखने के लिए ही युरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय में [illegible] बार एक परीक्षण हुआ था। इस में दस हज़ार विद्यार्थी बैठे थे।

इन में से पाच हज़ार को केवल शाकाहार फल, फूल, अन्न आदि पर और पांच हज़ार को मासाहार पर रखा गया था। छह महीनों के बाद जाच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातो मे तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध क्रूरता, भीरुता आदि दुर्गुणो का प्रादुर्भाव हुआ। मांसाहारियों से शाकाहारियों मे बल, सहनशक्ति आदि गुण भी विशेष रूप से पाए गए। शाकाहारियों में मानसिक शक्ति का विकास अच्छा हुआ। इस परीक्षण से यह स्पष्ट-रूप से सिद्ध हो गया था कि मांसाहार शाकाहार की बराबरी व समता नहीं कर सकता।

यह सत्य है कि सजीव वनस्पति का भोजन भी एकदम निष्पाप नहीं है, उस मे भी हिंसाजन्य पाप होता है किन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि वह मासाहार के समान पाप है। दोनों में मेरुपर्वत और सरसों जैसा अन्तर है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए—

कल्पना करो, एक व्यक्ति किसी के मकान में सेंध लगा कर और ताले तोड कर चोरी करता है और दूसरी ओर एक व्यक्ति दाँत खुरचने के लिए किसी के घर में पड़े हुए घास के तिनके को उठा लेता है, मालिक की आज्ञा बिना उसे ग्रहण कर लेता है। दोनों जगह विना दी हुई वस्तु को ग्रहण किया गया है, दोनो स्थानों पर चोरी की गई है, दोनों मे अदत्तादान चल रहा है। फिर भी इन दोनों अदत्तादानों में अन्तर अवश्य है। व्यावहारिक दृष्टि और शास्त्रीय दृष्टि इन में महान अन्तर देखती है। सेंध लगा कर या ताले तोड़ कर धन चुराने वाला व्यक्ति राजदण्ड का पात्र होता है। उसे जेलखाने में जाना पडता है, किन्तु तिनका उठाने वाले व्यक्ति को आज तक किसी न्यायालय ने जेल नहीं भेजा। यह तो हुई व्यावहारिक दृष्टि की

बात। अब शास्त्रीय दृष्टि को देख लीजिए। शास्त्रीय दृष्टि से धन चुराने वाला व्यक्ति अपने अचौर्याणुव्रत का भंग करता है, किन्तु तिनका उठाने वाले का उक्त व्रत सर्वथा सुरक्षित रहता है। कारण स्पष्ट है। धन चुराते समय आत्मा में एक विशेष प्रकार के दुष्ट भाव पाए जाते है, चोरी के ख्याल होते हैं, किन्तु तिनका उठाने वाले के ऐसे भाव नहीं होते।

मांसाहार और शाकाहार के सम्बन्ध में भी यही बात समझ लेनी चाहिए। हिंसा दोनों जगह है। तथापि दोनों में महान अन्तर है। मनुष्य के समान विविध क्रियाए करने वाले पशुओं के जीवन को लूट कर उनके मांस का आहार करना महापाप है और सजीव वनस्पति का भोजन करना सामान्य पाप है। क्योंकि पशुओं की हत्या करने में अतिशय क्रूरता, निर्दयता और कठोरता अपेक्षित है, जब कि वनस्पति की हिंसा मे वह बात नहीं होती है।

एक बात और समझ लेनी चाहिए। कोई जीव एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रि, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पञ्चेन्द्रिय है। इस तरह जीवों की नाना अवस्थाए पाई जाती हैं। ज्यों-ज्यों इन्द्रियों की अधिकता होती चली जाती है, त्यों-त्यों उन की हिंसा मे पाप की भी अधिकता होती चली जाती है। एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा मे अधिक पाप लगता है, और यही क्रम पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा तक समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से भी मांसाहार शाकाहार की बराबरी नहीं कर सकता।

मास शास्त्रीय दृष्टि से त्याज्य है, स्वास्थ्य की दृष्टि से परित्याज्य है, तथा आर्थिक दृष्टि से भी हेय है। इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा व कहा जा सकता है, किन्तु यह प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। अत इस सम्बन्ध में यदि अवसर मिला तो स्वतंत्रता से लिखने का विचार

है। प्रस्तुत में तो केवल इतना ही बतलाना इष्ट है कि मांसाहार का अहिंसा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

अहिंसक भारत हिंसा की ओर–

भारत सदा से संसार को अहिंसा का पाठ पढ़ाता रहा है, इस सत्य से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता। इतिहास इस बात का गवाह है। आज भी भारत सरकार पंचशील के नाम से संसार में अहिंसा का प्रसार कर रही है। किन्तु इस बात से भी आज इन्कार नहीं किया जा सकता कि संसार को अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाला भारत आज स्वयं हिंसा की ओर बढ़ रहा है। महात्मा गांधी के अहिंसक भारत मे आज हिंसा का बोल-बाला हो रहा है। महान् अहिंसक महाराज अशोक के सिंह चक्र को राष्ट्रिय चिन्ह बना कर भी आज का भारत उन की शिक्षाओं से कोसों दूर है। पशुहत्या को ही लें। महाराज अशोक के शासनकाल में समस्त भारत में पशुहत्या बन्द कर दी गई थी, परन्तु आजकल भारत में पशुहत्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अंग्रेजी राज्य के समाप्त हो जाने पर भी पशुओं की हत्या मे कमी नहीं हुई, बल्कि वृद्धि ही हुई है। अंग्रेजी शासन में प्रतिवर्ष लगभग एक करोड़ गौओं की हत्या होती थी। उस समय भारत अखण्ड था। पाकिस्तान बनने नहीं पाया था। पाकिस्तान बन जाने पर पशुओं का एक तिहाई भाग पाकिस्तान मे चला गया। इस से स्पष्ट है कि स्वतन्त्र भारत मे पशुहत्या मे कमी आजानी चाहिए थी, किन्तु १९५५–५६ ई० की सरकारी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि कतल किए गए गाय और बछड़ों की ८० लाख ७० हजार खालों निर्यात भारत ने किया है। ये सब खालें रूस, अमरीका तथा इंगलैण्ड आदि देशों में भेजी गईं। इस के

अलावा, भारतवर्ष में जूते बनाने वाली कुछ विदेशी (अब शायद स्वदेशी) कम्पनियां कतल किए गए गायों और होनहार बछड़ों की लगभग ५० लाख खाल प्रतिवर्ष खर्च करती है। इस हिसाब से स्पष्ट है कि भारत में आज अंगरेजी शासन से दूना गोवध हो रहा है।

मांस के लिए पशुओं का सहारः—

भारत सरकार की राष्ट्रीय आय कमेटी ने १९५८ में जो रिपोर्ट दी थी, उस के अनुसार १९५०-५१ में २२ करोड़ रुपयों का गो मांस तैयार हुआ, भैंस का मांस ६ करोड़ ५० लाख रुपयों का, भेड़ और बकरी का मांस ४४ करोड़ रुपयों का, सूअर का मांस ४ करोड़ ७५ लाख रुपयों का, मुर्गी और बतख के अण्डे १० करोड़ रुपयों के मुर्गी का मांस ८ करोड़ रुपयों का, और मछली ३६ करोड़ रुपयों की तैयार हुई। ये अंक केवल सरकारी कसाई खानों के हैं। शेष स्वतन्त्र या प्रच्छन्न रूप से जो गोवध होता है यदि उस के भी आंकड़े प्राप्त किये जाएं तो यह संख्या और भी बढ़ जायगी। इसके अलावा, खाद्य तथा कृषि मंत्रालय ने १९५६ ई० मांस बाजार की जो रिपोर्ट प्रकाशित की है। उस के अनुसार सरकारी तौर पर मांस का उत्पादन तथा प्रचार बढ़ाने के लिए सुझाव दिये गये हैं।

मांस-भक्षण के लिए प्रोत्साहन :—

मांस-भक्षण के लिए भारत सरकार जनता को विशेष रूप से प्रोत्साहित कर रही है। सन् १९३८ ई० में कांग्रेस ने नेहरू जी की अध्यक्षता में राष्ट्रिय योजना समिति बनाई थी। इस समिति की पशुनस्ल सुधार उपसमिति ने भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर ३१ जनवरी १९४८ ई० की जो रिपोर्ट प्रकाशित की है, उस में यह

सुझाव दिया गया कि लोगों को भोजन की आदतों और धार्मिक भावनाओं में क्रान्ति करके पालतू गाय आदि पशुओं को भोजन के स्थान पर काम में लाना चाहिए ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में गोवध जारी रखने का उल्लेख है। इस योजना में मछली उत्पादन के लिए १२ करोड़ रुपए व्यय करने का उल्लेख है। मुर्गियों और उनके अण्डों के उत्पादन के लिए ३ करोड़ की व्यवस्था है ।

स्वराज्य प्राप्त होने के पूर्व भारत में मांसहारियों की संख्या बहुत कम थी परन्तु सरकारी सहयोग और प्रोत्साहन से आज उन की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। आज शायद ही कोई चाय की दुकान बची होगी जहां अण्डे न बिकते हों। इसी प्रकार होटल भी कोई आप को ऐसा मिलेगा, जहां मांस न पकता हो। जिन विदेशियों को भारतवासी म्लेच्छ तक कहते थे, और अब भी कह रहे हैं, उन लोगों की तो यह दशा है कि वे पशुधन को संभाल कर रखते है और उस की इतनी सेवा करते हैं कि उनके यहां दूध और घी की कोई कमी नहीं है। वे दूध घी इतना उत्पन्न करते हैं कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी भारत को लाखों टन दूध, घी और मक्खन भेजते है, पर 'गोविन्द हरे, गोपाल हरे' का गीत गाने वाला भारत विदेशियों को अमृत के बदले गोमाता के चमड़े, आंत, जिगर, चर्बी, आदि भेजता है। जिस देश में विदेशी अतिथि पानी मांगने पर दूध से भरा गिलास पाते थे वही देश भारत आज विदेशियों को गाय, बछड़े, भेड़, बकरी, भैंस आदि के चमड़े, हड्डी, मांस, चर्बी सुखाया हुआ खून तथा मछली आदि पदार्थ भेजता है।

विदेशी दूध देते हैं भारत मांसः--

यह कैसी विडम्बना है कि हिंसक वृत्ति वाले भौतिकवादी राष्ट्र

भारत को शुद्ध घी दूध मक्खन अन्न और फल भेजते हैं और यह अहिंसावाद का ढिण्ढोरा पीटने वाला अध्यात्मवादी भारत उन देशों में गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि निरीह प्राणियों के मास, आन्तें. जिगर और हड्डी आदि भेजता है। क्या विदेश में पशु नहीं हैं ? विदेशी क्या उन पशुओं से मांस आदि की अपनी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकते? उत्तर स्पष्ट है कि वे राष्ट्र भारत जैसे बुद्धिहीन नहीं हैं कि अपने देश के पशुओं का संहार करें।

सन् १९५५-५६ ई० की सरकारी आयात-निर्यात रिपोर्ट के अनुसार ज्ञात होता है कि उक्त काल में भारत ने ३७,८८,७६,०७९ रुपए लेकर गाय, बछड़े, भेड़, बकरी, भैंस आदि के चमड़े, हड्डी, मांस, चर्बी, सुखाया हुआ खून तथा मछली आदि प्राणिजन्य पदार्थ विदेशी राष्ट्रों के हाथ बेचे। इसके लिए करोड़ों निरीह प्राणियों की हत्या की गई। १९५४-५५ में निर्यात की यह सख्या केवल ३६ करोड़ ३२ लाख रुपए तक ही थी। इससे ज्ञात होता है कि कृतल किए गए पशुओं की संख्या में लगभग डेढ लाख की वृद्धि केवल दो वर्षों में ही हो गई है। इस गति से यदि इन निरीह पशुओं की हत्या होती रही तो यह देश एक दिन रसातल को पहुंच जाएगा।

अब देखिए, विदेश भारत को क्या देते हैं ? १९५३-५४ ई० की आयात रिपोर्ट के अनुसार ४,५९,११,३७१ रुपए का दूध का पाउडर तथा लगभग ६ लाख रुपए का घी विदेशों से आया। इस संख्या मे दो ही वर्षों मे बहुत अधिक वृद्धि हो गई। १९५५-५६ में ५,८८ ३५,६८८ रुपए का दूध का पाउडर तथा १,५८,३३,५४६ रुपए का घी अन्य देशों से भारत में आया। इसके अतिरिक्त केवल अमेरीका ने लाखों रुपए का घी तथा दूध का पाउडर बिना मूल्य लिए ही भारत को उपहारस्वरूप प्रदान किया।

एक नया हिंसक व्यापार :-

भारत ने एक और नया व्यापार अपनाया है जिस का आधार

केवल हिंसा है। वह है बन्दरों को विदेश भेजना। ये निरीह बन्दर अपने परिवार सहित जंगलों और बागों में फूल और पत्तियां खा कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। मूक प्राणियों को लाखों की संख्या में पकड़ कर दूसरे देशों को भारत बेचता है, जहां निर्दयतापूर्वक उन्हे घोर कष्ट देकर मार डाला जाता है। पहले भारत के निवासी इन बन्दरों को हनुमान के वंशज समझकर सैंकड़ों मन चना और गुड़ खिलाया करते थे, तब अनाज की पैदावार भी इतनी होती थी कि इसे कोई अपव्यय नहीं समझता था। आज हालत यह है कि इन बन्दरों को कृषि का शत्रु समझ कर भारत सरकार हिंसा के लिए विदेशियों को बेच देती है और फिर भी हालत यह है कि विदेश से अन्न मंगाने पर भी भारत में अन्न-समस्या पर काबू नहीं पाया जा सका है *।

यह अहिंसाप्रधान और अहिंसा के अवतार महात्मा गान्धी की जन्मभूमि भारत की हिंसात्मक वृत्तियों का दिग्दर्शन मात्र है। महात्मा गान्धी की अहिंसा की दुहाई देने वाली भारत सरकार शान्ति से जरा यह सोचने का कष्ट करे कि क्या वह राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के मार्ग का अनुसरण कर रही है? तथा यह भी सोचे कि अहिंसा का केवल नाम लेकर महात्मा बुद्ध तथा महात्मा गान्धी की जयन्तियां मना कर भारत सरकार अहिंसा की प्रतिष्ठा कर रही है या इस की अवहेलना?

---

* "श्रमण" के मई-जून १९५८ के अंक के श्रीमती राजलक्ष्मी के 'अहिंसक भारत हिंसा की ओर' नामक लेख से साभार उद्धृत कुछ अंश।

अनेकान्त-वाद

भगवान महावीर का दूसरा सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन करने के लिए भगवान ने संसार को अनेकान्तवाद का महासत्य समझाया। भगवान महावीर के समकालीन धर्मनेताओं और विद्वत्समाज मे जो विचार-संघर्ष चल रहा था, विचारों की हिंसा का जो गदा नाला वह रहा था, एकान्तवाद को लेकर जनमानस में असहिष्णुता का जो जहर बढ़ता जा रहा था, उस महारोग को जड़ से मिटाने के लिए संसार को भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद का अमृतरस प्रदान किया था। दर्शनजगत में अनेकान्तवाद का बड़ा मौलिक स्थान है। दार्शनिक विचारों में समन्वय लाने का इस से बढ़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अनेकान्तवाद और एकान्तवाद :-

संसार में दो तरह के व्यक्ति पाए जाते हैं। एक ऐसा है, जो कहता है कि जो मेरा है, वह सत्य है। उस का विचार है कि मेरी बात कभी ग़लत नहीं हो सकता। मैं जो कहता हूं, वह सदा सोलह आने सत्य होता है और जो दूसरा कहता है वह सर्वथा झूठ है, ग़लत है। दूसरे व्यक्ति का विश्वास है कि जो सत्य है, वह मेरा है। उस की धारणा है कि मुझे अपनी बात का कोई आग्रह नहीं है। मैं तो सत्य का पुजारी हूं। मुझे सत्य चाहिये। मै किसी को झूठा नहीं कहता और जो मेरा है वही सत्य है, ऐसा भी मैं नहीं कहता हूँ। मैं तो "जो सत्य है, वह मेरा है, ऐसा मानता हूँ और वह सत्य जहां कहीं से मुझे प्राप्त हो जाए, वहीं से मैं लेने को तैयार हूँ। भगवान महावीर की दृष्टि में

पहला व्यक्ति एकान्तवाद को लेकर चल रहा है और दूसरा अनेकान्तवाद को अपना रहा है।

वस्तु के अनेक धर्मों का जो समन्वय करता है, उसी तथ्य का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद प्रत्येक व्यक्ति को वस्तु के सभी धर्मों को समझ लेने की बात कहता है किन्तु एकान्त-वाद में ऐसी बात नहीं होता। उस में किसी पदार्थ पर भिन्न दृष्टियों से विचार नहीं किया जाता है, उसे वस्तु का एक धर्म ही इष्ट है। इसीलिए भगवान महावीर कहते हैं कि एकान्तवाद अपूर्ण है, सत्यता को पंगु बनाने वाला है और यह लोक-व्यवहार का साधक न हो कर बाधक ही बनता है।

एकान्तवाद की व्यवहारबाधकता :—

एकान्तवाद की व्यवहार-बाधकता को एक उदाहरण द्वारा समझिए। कल्पना करो। एक व्यक्ति दुकान पर बैठा है। एक ओर से एक बालक आता है। वह उसे कहता है—पिता जी। दूसरी ओर से एक बालिका आती है। वह कहती है—चाचा जी। तीसरी ओर से एक वृद्धा आती है, वह कहती है-पुत्र। चौथी ओर से उस का समवयस्क एक मनुष्य आता है। वह कहता है—भाई! इतने में दुकान के भीतर से एक युवक निकलता है। वह कहता है—मामा जी। मतलब यह है कि कोई व्यक्ति उस पुरुष को पिता जी, कोई चाचा जी, कोई ताऊ जी, कोई मामा जी और कोई उसे भ्राता जी कहता है। और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी बात का आग्रह भी है। एक दूसरे की बात को कोई मानने को तैयार नहीं है। पुत्र कहता है कि ये तो पिता ही हैं। वृद्धा कहती है-नहीं नहीं। यह तो पुत्र ही है। इस प्रकार सभी को अपनी-अपनी बात का आग्रह हो रहा है। सभी एकान्तवादी बने हुए हैं और

एक ही दृष्टि को लेकर तने हुए हैं। कोई अपना आग्रह छोड़ना नहीं चाहता। कहिए, इन का निर्णय कैसे हो ? कैसे उन के अशान्त मन को शान्त किया जाए ? एकान्तवाद इस विवाद को शान्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो स्वयं उस विवाद का मूल है। ऐसी दशा में वह निर्णायक का स्थान कैसे ले सकता है ? देखी एकान्तवाद की व्यवहार-बाधकता ?

अनेकान्तवाद की व्यवहार-साधकता :-

यहां अनेकान्तवाद का आश्रयण करना होगा। अनेकान्तवाद इस विवाद को बड़ी सुन्दरता से निपटा देता है। इस की व्यवहार-साधकता बड़ी विलक्षण है। अनेकान्तवाद लड़के से कहता है— पुत्र ! तुम ठीक कहते हो, ये तुम्हारे पिता हैं, किन्तु इतना ध्यान रखना, ये केवल तुम्हारे पिता हैं, सब के नहीं। क्योंकि तुम इन के पुत्र हो। अनेकान्तवाद लड़की से कहता है—पुत्रि ! तुम भी ग़लत नहीं कहती हो, ये तुम्हारे चाचा हैं। क्योंकि ये तुम्हारे पिता के भाई है। वृद्धा से कहता है-माता जी ! तुम्हारा कथन भी सत्य है। तुम उस पुरुष की जननी हो इस लिए वह तुम्हारा पुत्र है, किन्तु तुम उसे एक ही दृष्टि से मत देखो। उस में जो पितृत्व, भ्रातृत्व, पतित्व आदि अन्य अनेकों धर्म रहते हैं, उन का भी आदर करो। एक ही व्यक्ति में अनेको धर्म निवास करते हैं परन्तु वे भिन्न-भिन्न दृष्टियो से है। केवल एक दृष्टि से नहीं। विवाद तब होता है जब एक ही दृष्टि का आदर होता है, और अन्य दृष्टियों को ठुकरा दिया जाता है। अत. तुम भी सत्य कहती हो और अन्य व्यक्ति भी सत्य कहते हैं। वस्तु में स्थित सभी धर्मों पर दृष्टिपात करने से विवाद को कोई स्थान नहीं रहता। इसी प्रकार अनेकान्तवाद युवक तथा अन्य व्यक्तियो को भी समझा कर विरोधहीन कर डालता है।

इस तरह पदार्थों में अवस्थित विविध धर्मों को बतला कर तथा आग्रह-शील और अशान्त मन को शान्त करके अनेकान्तवाद सब को उदारता का मंगलमय पाठ पढ़ाता है। देखा, अनेकान्तवाद का अपूर्व निर्णय और उसकी व्यवहार-साधकता ?

अनेकान्तवाद की उपयोगिता :-

संसार में जितने भी एकान्तवादी विचारक है, वे पदार्थ के एक-एक अंश (धर्म) को पूर्ण पदार्थ समझ बैठते है। परिणाम यह होता है कि उन का परस्पर विवाद होता है और कभी कभी तो वे इतने आग्रही हो कर लड़ते-झगड़ते दिखाई देते है कि मनुष्यता भी उन का साथ छोड देती है। भगवान महावीर के युग मे ये विवाद पूर्ण यौवन पर थे। उस समय राजगृह नगरी के चौराहो पर पण्डितों के दल के दल घूमा करते थे, धर्म और सत्य के नाम पर कदाग्रह की पूजा हो रही थी। सभ्यता को मुंह छिपाने को भी स्थान नहीं मिल रहा था। असभ्यता और अनुदारता विद्वत्ता के सिंहासन पर बैठी हुई थी। पण्डितो के दलो मे जो आपस में अनेक तरह भिड़ पड़ते थे, बोलाचाली के साथ-साथ हाथापाई, मुक्कामुक्की तक की नौबत भी आजाती थी। ये पण्डित बड़ी तेजी से धर्मरक्षा के लिए प्राण लेने और देने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहते थे। कहीं †नित्यवादी अनित्यवादी का मस्तक पत्थर मार कर इस लिए फोड देता था कि जब आत्मा अनित्य

†आत्मा को एकान्त नित्य मानने वाला व्यक्ति नित्यवादी कहलाता है। यह आत्मतत्त्व में किसी प्रकार की भी अनित्यता स्वीकार नहीं करता है। और जो इस आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता है, वह अनित्यवादी कहा जाता है। यह आत्मा को क्षणिक स्वीकार करता है। इसे आत्मतत्व मे किसी प्रकार की नित्यता इष्ट नहीं है।

(स्थायी न रहने वाली) है तो मस्तक के फूट जाने से तुम्हारा क्या बिगड़ा? कहीं अनित्यवादी नित्यवादी के मस्तक के को इस लिए फोड़ देता था कि तुम तो कहते हो, आत्मा नित्य है, स्थायी रहने वाला है। जब आत्मा नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता, तब रोने की क्या आवश्यकता है? इस तरह दार्शनिक विचारों के मतभेद को लेकर एक दूसरा, एक दूसरे को पछाड़ता था। वह दर्शनों का युग था। जहां जिस की टक्कर हो जाती, वहीं युद्ध का श्रीगणेश हो जाता था। पण्डितो के इन भीषण धर्म-द्वन्द्वों से उस समय सर्वतोमुखी आतंक छाया हुआ था। जनता धर्मतत्त्व से ऊब चुकी थी, उसे उस मे घृणा हो गई थी। जनमानस किसी शान्ति-दूत तथा मार्गदर्शक की प्रतीक्षा कर रहा था।

अहिंसा और सत्य के अमरदूत भगवान महावीर इसी युग में अवतरित हुए थे। वे एक सफल वैद्य थे, जो आधि, व्याध और उपाधिरूप त्रिताप से सन्तप्त संसार को शान्ति का दिव्य औषध खिलाने आए थे। भगवान ने देश के तात्कालिक रोग का गंभीर अध्ययन किया और उस के मूलभूत कारण को टटोला। वह कारण था-एकान्तवाद। एकान्तवाद में किसी भी पदार्थ पर भिन्न दृष्टियों से विचार नहीं किया जाता है। उसे केवल एक ही दृष्टि से देखा जाता है और उसे एक दृष्टि का इतना अधिक मोह होता है कि दूसरी दृष्टि का श्रवण करना भी वहां असह्य होता है। इसी लिए उस में संघर्षों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भगवान ने तात्कालिक संघर्ष का मूल कारण एकान्तवाद समझा और अनेकान्तवाद के दिव्य औषध से उस का उपचार करके उसे सदा के लिए उसे शान्त किया।

अनेकान्तवाद नित्यवादी और अनित्यवादी दोनों का उचित समाधान करता है। अनेकान्तवाद दोनों को शान्त करता है। अनेका-

न्तवाद का विश्वास है—जो कहता है कि आत्मा नित्य ही है, वह भूलता है और जो कहता है-आत्मा अनित्य ही है, वह भी भूल करता है। वास्तव मे आत्मा नित्यानित्य है, नित्य भी है और अनित्य भी है। ससारी आत्मा कभी मनुष्य की पर्याय (अवस्था) में तथा कभी पशु आदि की पर्यायों मे गमनागमन करती रहती है, नट की भांति अनेकों रूप धारण करती है। इस दृष्टि से आत्मा अनित्य है तथा आत्मा मनुष्य पशु आदि किसी भी पर्याय में रहे किन्तु वह रहती आत्मा ही है, अनात्मा नहीं बन जाती। ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोग से आत्मा कभी भी शून्य नहीं होती। इस दृष्टि से आत्मा नित्य है। इस प्रकार आत्मा को नित्यानित्य मान लेने पर ही दार्शनिक जगत का धर्म द्वन्द्व उपशान्त हो सकता है और सर्वत्र शान्ति की स्थापना की जा सकती है। एकान्तवाद का परिहार करके भगवान महावीर ने इसी अनेकान्तवाद की दिव्य औषध से उस समय राष्ट्र के अन्तःस्वास्थ्य को सुरक्षित रखा था।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। पाठक इस बात से अवश्य विस्मित होंगे और उन्हें सहसा यह विचार आयगा कि जो पदार्थ नित्य है, वह भला अनित्य कैसे हो सकता है ? और जो अनित्य है वह नित्य कैसे हो सकता है ? परन्तु गभीरता से यदि चिन्तन किया जाए तो यह समस्या स्वतः समाहित हो सकती है। कल्पना करो। सोने का कुण्डल है। हम देखते हैं कि वही कुण्डल स्वर्णकार द्वारा हार बना दिया गया वह हार पुनः कड़ा बना दिया गया, कड़ा भी पुनः किसी अन्य आकार में परिवर्तित कर दिया जाता है। इस से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कुण्डल आदि कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, बल्कि सुवर्ण का एक आकारविशेष है और वह आकारविशेष सुवर्ण से सर्वथा

भिन्न नहीं है, उसीका एक रूप है, क्योंकि भिन्न २ आकारों में परिवर्तित स्वर्ण जब कुण्डल, कड़ा, आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है तो उस स्थिति में आकार सुवर्ण से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकता है? अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी—स्वरूप कौनसा है ? और नित्य कौनसा ? यह प्रत्यक्ष है कि कुण्डल आदि का आकार स्वरूप विनाशी है । क्योंकि वह बनता है और बिगड़ता है, पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा। और कुण्डल का जो दूसरा स्वरूप सुवर्ण है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। कुण्डल के निर्माण से पूर्व भी वह था और उस के बनने पर भी वह मौजूद है । जब कुण्डल नष्ट हो जायगा तब भी वह मौजूद रहेगा। प्रत्येक दशा में सुवर्ण, सुवर्ण ही रहेगा। सुवर्ण अपने आप में स्थायी तत्त्व है। उसे बनना बिगड़ना नहीं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुण्डल का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक बनता है और नष्ट होता है, परन्तु दूसरा हमेशा बना रहता है, नित्य रहता है। अतः अनेकान्तवाद की दृष्टि से— कुण्डल अपने आकार की दृष्टि से विनष्ट होने के कारण अनित्य है, और मूल सुवर्ण अविनाशी रूप से नित्य है। इस प्रकार एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी जैसे दीखने वाले नित्यता और अनित्यतारूप विविध धर्म पाए जाते है और इन धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद सिद्धान्त है ।

इस के अलावा जिसप्रकार पितृत्व और पुत्रत्व ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी एक ही पुरुष में निर्विरोध रहते हैं, उसी प्रकार और—और धर्म भी विना विरोध के एक जगह रह सकते हैं। विभिन्न अपेक्षाएं सब विरोध समाप्त कर देती हैं। जैसे जिस अपेक्षा से कोई पुरुष किसी का पिता है. उसी अपेक्षा से यदि उसे किसी का

पुत्र कहा जाए तो विरोध हो सकता है, किन्तु पुत्र की अपेक्षा पिता, और पिता की अपेक्षा पुत्र कहने से विरोध नहीं रहने पाता। इसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों मे एक ही पदार्थ में अनेकों धर्म रहते हैं। और उन में कोई विरोध नहीं होता। इस विरोध को समाप्त करने की कला का नाम अनेकान्तवाद् है।

अनेकान्तवाद् के इस अनुपम तत्त्व को न समझने के कारण विश्व मे विविध धर्मों दर्शनों, मतों, पन्थों और सम्प्रदायों में विवाद होते दिखाई दे रहे है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य एवं मिथ्या बतलाते नहीं सकुचाते। वे अपने ही माने हुए धर्म या मत को सम्पूर्ण सत्य मान कर दूसरे धर्मों का विरोध करते हैं। परिणाम यह होता है कि धर्म के नाम पर विवाद पनप उठते हैं और कभी-कभी देश, जाति को महान क्षति उठानी पड़ती है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के विभाजन के समय हिन्दुओं और मुसलमानों में जो मारकाट हुई, उसे कौन नहीं जानता? वह भी मतान्धता का ही एक दुष्परिणाम था। यही मतान्धता शास्त्रीय भाषा में एकान्त-वाद है। आज धर्म अगर बदनाम हो रहा है, तो उसका कारण एकान्त-वाद ही है। एकान्तवाद् होता तो अपूर्ण है, किन्तु वह सम्पूर्ण होने का दावा करता है और इसी झूठे दावे के आधार पर वह दूसरे धर्मों को मिथ्या होने का फतवा दे डालता है।

अनेकान्तवाद को समझने के लिए जैनशास्त्रों में कुछ अन्धों का दृष्टान्त दिया गया है। वह बड़ा ही मनोहारी है। कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना था, किन्तु उस की आकृति का उन्हें ज्ञान नहीं था। संयोगवश एक दिन कहीं से हाथी आगया। अन्धों ने उस हाथी के भिन्न—भिन्न अंग छूए। किसी ने उस का पैर पकड़ा,

किसी ने सूण्ड पकड़ी, किसी ने पूंछ को हाथ लगाया और किसी ने पेट टटोला। इस प्रकार अपने-अपने हाथ आए हुए हाथी के एक-एक अवयव को ही वे पूरा हाथी समझने लगे। पैर टटोलने वाले ने हाथी को स्तंभ के समान समझा, सूण्ड पकडने वाले ने मूसल के समान, कान पकडने वाले ने सूप (छाज) के समान और पूंछ को हाथ लगाने वाले ने, मोटे रस्से के समान समझ लिया। अन्धे अपने-अपने अनुभव के आधार पर हाथी के एक—एक अवयव को सम्पूर्ण हाथी समझते हुए आपस मे मिले और जब उनके अनुभव परस्पर विरोधी प्रकट हुए तो आपस मे विवाद करने लगे और सभी एक दूसरे को झूठा बतलाने लगे। ठीक यही दशा एकान्तवादी धर्मों, दर्शनों और सम्प्रदायों की होती है। उक्त जन्मान्धो का कथन एक—एक अ श में सत्य अवश्य है किन्तु जब वे दूसरों को झूठा बतलाते हैं तो स्वय झूठे बन जाते हैं। इसी प्रकार जगत के एकान्तवादी धर्म अपने आपको सच्चा समझते हुए दूसरों को झूठा न कहें अथवा न मानें तो कोई विवाद उपस्थित नहीं हो सकता। परन्तु दूसरे के दृष्टिकोण को अपनी दृष्टि से ओझल करके और उस की आंशिक सचाई को अस्वीकार करके उस को झूठा कहते हैं। इस कारण वे स्वय झूठे बन जाते हैं। इससे परस्पर विरोध का सम्वर्धन होता है। इस विरोध को अनेकान्तवाद की समन्वय-प्रधान दृष्टि ही शान्त कर सकती है।

अनेकान्तवाद का दूसरा नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद शब्द दो पदों से बना है— स्याद् और वाद। स्याद् यह अव्ययपद है, जो † अनेकान्त अर्थ का बोध कराता है। वाद का अर्थ है—कथन। अर्थात् अनेकान्त भाषा द्वारा कथन, वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन स्याद्-

---

†स्याद् इत्यव्ययं अनेकान्त-द्योतकं, तत. स्याद्वादः, अनेकान्त-वाद. (स्याद्वाद-मजरी में मल्लिषेण सूरि)

वाद कहलाता है। ससार के सभी पदार्थों मे अनन्त धर्म पाए जाते हैं किन्तु द्रष्टा जब पदार्थ के सम्पूर्ण रूप को न देखकर उसके अपूर्ण रूप को देखता है और जब वह मान लेता है कि मैंने पदार्थ के सम्पूर्ण रूप को देख लिया है, तथा मेरे ज्ञान से बाहिर कुछ नहीं रह गया है. तभी गडबड पैदा होती है। अपूर्ण मे पूर्ण की कल्पना ही दार्शनिक मत भेदों का मूल कारण है । इसी से विरोध उत्पन्न होता है । स्याद्-वाद इसी विरोध की आग पर शान्ति का पानी डालता है। स्याद्-वाद की दृष्टि से सब धर्मों और मतमतान्तरों के प्रति सहिष्णुता प्राप्त होती है। इससे विचारों का संघर्ष सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

स्याद्वाद शान्ति का अमरदूत है। वह कभी किसी दर्शन से घृणा नहीं करता। यदि ससार के समस्त दार्शनिक अपने एकान्त आग्रह को छोड़ कर स्याद्वाद से काम लेने लगें तो सभी दार्शनिक प्रश्न सहज में ही निपट सकते हैं। स्याद्वाद की समन्वय दृष्टि बडी विलक्षण है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने कितने सुन्दर शब्दों मे अनेकान्त-वाद का रहस्य प्रकट किया है ? वे लिखते हैं.—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
तेन स्याद्वादमालब्य, सर्वदर्शनतुल्यतां ।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति ।
स एव धर्मवाद स्यादन्यद्बालिशवल्गनम् ॥
माध्यस्थ्यसहितं त्वेकपद--- ज्ञानमपि प्रमा।

शास्त्रकोटिः वृथैवान्या, तथा चोक्तं महात्मना ॥

(अध्यात्मसार)

अर्थात्— सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव मे सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है जो अनेकान्तवाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समभाव रखता है। माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। यही धर्मवाद है। माध्यस्थ्य भाव रहने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है। अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है।

आज चारों ओर जो पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रिय तथा धार्मिक विरोध दृष्टिगोचर हो रहे हैं, और कलह, ईर्षा, अनुदारता, साम्प्रदायिकता तथा सङ्कीर्णता आदि दोषों ने मानवसमाज को खोखला बना डाला है। इन सब को शान्त करने का एकमात्र यदि कोई उपाय है तो बस वह अनेकान्तवाद ही है। विश्व में जब भी कभी शान्ति होगी तो वह अनेकान्तवाद के आश्रयण से ही होगी यह बात नि सन्देह सत्य है।

अनेकान्तवाद और विज्ञान.—

भगवान महावीर ने विश्व की प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म स्वीकार किए हैं, और उन धर्मों का समन्वय वे अनेकान्तवाद के द्वारा करते हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ अनेकधर्मात्मक है। विज्ञान कहता है कि पदार्थ में ऐसे अनेकों गुण विद्यमान हैं, जिन्हे पूरी तरह जाना नहीं जा सका है।

साधारणतया पदार्थों को हम जिस रूप मे देखते है, वही उस का पूरा रूप नहीं होता। पदार्थों में अनेकों अप्रकट गुण या शक्तियां विद्यमान हैं। जिन्हे जानने और समझने की नितान्त आवश्यकता है। विज्ञान ने इस दिशा मे काफी प्रयत्न किए हैं। विज्ञान के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम है कि पदार्थ की नई-नई शक्तियां प्रकाश मे आ रही है। अणुशक्ति को ही ले लीजिए। यह शक्ति पहले सर्वथा अज्ञात थी। अब उस का पता चल गया है और इस की बदौलत संसार मे भारी उथल-पुथल मच रही है। यह सत्य है कि वैज्ञानिक जिसे अणु कहते हैं, भगवान महावीर के सिद्धान्त के अनुसार वह अणु नहीं है। अणु तो अभी बहुत गहरी खोज का विषय है। तथापि विज्ञान के इस अन्वेषण से यह तो प्रमाणित हो ही गया है कि पदार्थ मे अनन्त धर्म अवस्थित हैं। अणुवाद का अन्वेषण करके विज्ञान ने अपने ढंग से भगवान महावीर के ही अनेकान्तवाद का समर्थन और पोषण किया है। विज्ञान द्वारा "-पदार्थों मे अनेकों शक्तियां अविस्थत हैं",-यही सत्य प्रमाणित किया गया है। इस में मतभेद वाली कोई बात नहीं है।

अनेकान्तवाद और अपेक्षावादः-

अनेकान्तवाद को अपेक्षावाद भी कहा जा सकता है। क्योंकि इस मे किसी भी पदार्थ को अपेक्षा मे देखा जाता है और अपेक्षा से ही उस का वर्णन किया जाता है। बोर्ड पर खींची हुई तीन इंच की रेखा मे अपेक्षा-कृत बड़ापन और अपेक्षाकृत ही छोटापन रहा हुआ है। यदि तीन इंच की रेखा के नीचे पांच ईंच की रेखा खींच दी जाए तो वह पांच इंच की रेखा की अपेक्षा छोटी है और उसके ऊपर दो इंच की रेखा खींच दी जाय तो वह ऊपर की रेखा की अपेक्षा बड़ी

है। एक ही रेखा में छोटापन और बड़ापन ये दोनों धर्म अपेक्षा से ही रह रहे हैं। अनेकान्तवादी तीन इंच की रेखा को "यह छोटी ही है" या "बडी ही है" इन शब्दों से नहीं कहने पाता। वह भी शब्द का प्रयोग करता है। वह कहता है— यह छोटी भी है, और यह बडी भी है। क्योंकि अपेक्षाकृत उस में बड़ापन और छोटापन ये दोनों धर्म निवास कर रहे हैं।

अनेकान्तवाद और हठवादः-

अनेकान्तवाद मनुष्य को सहिष्णुता के साथ पदार्थ के सभी धर्मों पर दृष्टिपात करने की मधुर प्रेरणा प्रदान करता है। हठ या जिद् का अनेकान्तवाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेकान्तवाद हठ के परित्याग पर बल देता है। हट किसी भी दशा में हितावह नहीं हो सकता। हठवाद ने ही *द्वैतवाद, अद्वैतवाद, नित्यवाद और अनित्यवाद को जन्म दिया है। हठवाद सघर्षों की जन्मभूमि है। हठवादी लोगों ने ही धर्म को सम्प्रदायों का वेष पहना कर उसे झगड़े की जड़ बना दिया है। धर्म में जितने विकार आए हैं, उन का उत्तरदायित्व हठवाद पर है। धर्म के विकृतरूप से युरोप में जो नास्तिकवाद बल पकड गया है, और परिणाम स्वरूप रूस ने धर्म को जो सर्वथा तिलाजलि दे डाली है, इस का उत्तरदायित्व भी हठवाद पर ही है। हठवाद एक भीषण अन्धकार है। अनेकान्तवाद के दिवाकर के चमके बिना इस का नाश नहीं किया जा सकता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभगी-

अनेकान्तवाद को सप्तभगी भी कहा जाता है। जब एक वस्तु

---

*द्वैतवाद मे जीव और ब्रह्म मे भेद माना जाता है तथा अद्वैतवाद म , जीव और ब्रह्म का भेद नहीं माना जाता।

के किसी एक धर्म के विषय में प्रश्न किया जाता है, तब सभी विरोधी विचारों का परिहार करके उस प्रश्न के उत्तर में व्यस्त (पृथक्) समस्त, विधि और निषेध की कल्पना की जाती है। इस कल्पना के कारण सात प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया जा सकता है। सप्त प्रकार के उन वाक्यों का नाम ही सप्तभगीवाद है। *सप्तभंगी को हम निम्नोक्त शब्दों में कह सकते हैं—

१—कथञ्चित् है। भाव यह है कि प्रत्यक पदार्थ स्वरूपचतुष्टय (अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव) की अपेक्षा अस्ति रूप है। यह तथ्य एक उदाहरण से विस्पष्ट हो जायेगा— एक पुस्तक अपने द्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व को लिए हुए है।

---

*अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य इन तीन भगों से चार संयुक्त-भग बन कर सप्तभंगी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च, खटाई इन तीन स्वादों के सयोग से चार और स्वाद उत्पन्न हो जाते हैं। १—नमक-मिर्च-खटाई, २—नमक-मिर्च, ३—नमक-खटाई, ४—मिर्च-खटाई, ५—नमक, ६—मिर्च, ७—खटाई, इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इस सप्तभगी न्याय की परिभाषा करते हुए एक जैनाचार्य लिखते है—

प्रश्नवशात् एकत्र वस्तुनि अविरोधेन
विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी ।

(राजवा० १-६)

अर्थात्-प्रश्नवश एक वस्तु में अविरोध रूप से विधि-निषेध अर्थात् अस्ति नास्ति की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है।

(जैनशासन पृष्ठ १८६)

क्षेत्र (जहां वह पडी है उस) की अपेक्षा से भी "है" ऐसे कही जा सकती है। काल (जिस समय पुस्तक अवस्थित है) की अपेक्षा भी विद्यमान है। अत पुस्तक को "कथञ्चित् है" इन शब्दों से कहा जा सकता है।

२—कथञ्चित् नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परचतुष्टय (अर्थात् दूसरे पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से नास्तिरूप भी है। जैसे घड़ा द्रव्य की अपेक्षा पार्थिव रूप से विद्यमान है, किन्तु जलरूप से नहीं। क्षेत्र (स्थान) की अपेक्षा अर्थात् लुधियाना नगर की अपेक्षा अवस्थित है, किन्तु पटियाला नगर की अपेक्षा नहीं है। काल (समय) की अपेक्षा शीत ऋतु की दृष्टि से है किन्तु वसन्त ऋतु की दृष्टि से नहीं है। तथा भाव (गुण) की अपेक्षा श्वेत रूप से मौजूद है, किन्तु पीत रूप की अपेक्षा से नहीं है। अत हम घड़े को कथञ्चित् नहीं है, इन शब्दों द्वारा भी कह सकते हैं।

३—कथञ्चित् है, और कथञ्चित् नहीं है। हार्द यह है कि जब हम क्रम से वस्तु को स्व रूप की अपेक्षा से 'है' और पर रूप की अपेक्षा से 'नहीं है' ऐसा कहते हैं तो हम प्रत्येक वस्तु को 'कथञ्चित् है, और 'कथञ्चित् नहीं है' इन शब्दों द्वारा भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु मे स्वरूपचतुष्टय की दृष्टि से अस्तित्व है और पररूपचतुष्टय की दृष्टि से नास्तित्व भी पाते हैं।

४—कथञ्चित् कहा नहीं जा सकता, अर्थात् अवक्तव्य। अभिमत यह है कि हम वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म को एक साथ नहीं कह सकते हैं। जिस समय जीव को सत् कहते हैं, उससमय वह असत् नहीं है और जब जीव को जड की अपेक्षा

असत् कहते है तो उस समय जीव को सत् नही कह सकते क्योकि अस्तित्व और नास्तित्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म है। भाव यह है कि हम किसी भी वस्तु को अवक्तव्य भी कह सकते है। दूसरे शब्दो मे—अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मों को एक साथ कथन करने वाली वाणी की असमर्थता के कारण वस्तु को अवक्तव्य या अनिर्वचनीय भी कहा जा सकता है।

५—कथञ्चित् है, तथापि अवक्तव्य है। तात्पर्य यह है कि है कि जब हम किसी वस्तु को स्व-रूप की अपेक्षा सत् कह कर उस को एक साथ अस्ति नास्ति रूप अवक्तव्य रूप से विवेचना करना चाहते है तो उस समय हम उसे 'कथञ्चित् है तथापि अवक्तव्य है' इन शब्दो से कह सकते है।

६—कथञ्चित् नही है, तथापि अवक्तव्य है। अर्थात् जब हम वस्तु के नास्तित्व धर्म की विवक्षा के साथ अस्तिनास्ति-रूप अवक्तव्य रूप विवेचना करना चाहते है तो उस समय हम प्रत्येक वस्तु को "कथञ्चित् नही है, तथापि अवक्तव्य है" इन शब्दो द्वारा अभिव्यक्त कर सकते है।

७—कथञ्चित् है, कथञ्चित् नही तथापि अवक्तव्य है। भाव यह है कि जब हम किसी वस्तु मे स्व-रूप की अपेक्षा अस्तित्व, पर-रूप की दृष्टि से नास्तित्व होने पर भी एक साथ अस्तिनास्तिरूप अवक्तव्य रूप पाते है तब हम उस वस्तु को 'कथञ्चित् है कथञ्चित् नही है तथापि अवक्तव्य है" इन शब्दो से कह सकते हैं।

वैसे तो प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म रहते है, और उन अनन्त धर्मो के अनन्त प्रकारो की कल्पना भी की जा सकती है तथापि व्यस्त, समस्त, विधि तथा निषेध की दृष्टि से वाक्यो

के ये सात विकल्प ही हो सकते है, इन से अधिक नही। सक्षेप मे यही सप्तभगी का स्वरूप है।

अनेकान्तवाद और जैनेतर विद्वान :—

कहा जा चुका है कि अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहा जाता है। स्याद्वाद की आदर्श महत्ता और लोकोपयोगिता सर्व-विदित है। जैनविद्वानो ने तो इस के प्रति महान श्रद्धा प्रकट की ही है किन्तु इस की उपयोगिता और उपादेयता को जैनतर विद्वानो ने भी सहर्ष स्वीकार किया है। भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित "जैनशासन" के "समन्वय का मार्ग स्याद्वाद" नामक लेख मे विद्वान लेखक श्री सुमेरचद दिवाकर लिखते है—

"पुरातनकाल मे जव साम्प्रदायिकता का नशा गहरा था, तव इस स्याद्वाद सिद्धान्त की विकृत रूपरेखा प्रदर्शित कर किन्ही-किन्ही प्रतिष्ठित धर्माचार्यों ने इस के विरुद्ध अपना रोप प्रकट किया और उस सामग्री के प्रति "वावा-वाक्य प्रमाण" की आस्था रखने वाला आज भी सत्य के प्रकाश से अपने को वचित करता है। आनन्द की वात है कि इस युग मे साम्प्र-दायिकता का भूत वैज्ञानिक दृष्टि के प्रकाश मे उतरा, इस लिए स्याद्वाद की गुणगाथा वडे वडे विशेषज्ञ गाने लगे। जर्मन विद्वान प्रो० हर्मन जेकोवी ने लिखा है—

जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन, भारतीय विज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियो के लिए वहुत महत्त्वपूर्ण है। स्याद्वाद से सर्वसत्य विचारो का द्वार खुल जाता है।

इण्डिया आफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालय के अध्यक्ष

डा० थामस के उद्गार वडे महत्त्वपूर्ण है—

न्यायशास्त्र मे जैनन्याय का वहुत ऊचा स्थान है। स्याद्वाद का स्थान वडा गभीर है। यह वस्तुओ की भिन्न-भिन्न परि-स्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है।

भारतीय विद्वानो मे निष्पक्ष आलोचक स्व० पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना अधिक उद्बोधक है—

प्राचीन डर्रे के हिन्दू धर्मावलम्वी वडे-वड़े शास्त्री तक अव भी नही जानते कि जैनियो का "स्याद्वाद" किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है—जर्मन, और इगलेड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञो को, जिन की कृपा से इस धर्म के अनुयायियो के कीर्तिकलाप की खोज की ओर भारतवर्ष के इतर जनो का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि वे विदेशी विद्वान जैनो के धर्म-ग्रन्थो की आलोचना न करते, उन के प्राचीन लेखको की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार डूवते रहते।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी जी ने लिखा है-"जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हू उसी प्रकार मैं उसे मानता हू। मुझे अनेकान्तवाद वडा प्रिय है।

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदाचार्य पं० स्वामी राममिश्र जी ने लिखा है—

स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है। जिसके अन्दर प्रतिवादियो के मायावी गोले प्रवेश नही कर सकते।"

इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद केवल जैनो का ही प्रिय सिद्धान्त नहीं रहा, प्रत्युत गुणग्राही, विचारक, शास्त्रज्ञ जैनेतर विद्वानो ने भी इसका पूरा-पूरा सम्मान किया

है। और वे भी इसकी महत्ता तथा मानवता के विकास मे असाधारण उपयोगिता को सहर्ष स्वीकार करते है।

स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता कितनी महान है? इस प्रश्न का समाधान सुप्रसिद्ध विद्वान काका कालेलकर के शब्दो मे सुनिए-

अहिंसा धर्म का एक उज्ज्वल रूप है- अनेकान्तवाद या स्याद्वाद। इसकी तात्त्विक, दार्शनिक और तार्किक चर्चा बहुत हो चुकी है। इस से अब किसी को दिलचस्पी नही रही है। लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय राज्य मे, रग मे और गोरे, काले, पीले, लाल या गेहू वर्णी भिन्न-भिन्न वर्णो के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे अगर हम समन्वयवाद को चलाएगे और स्याद्वाद को नया रूप देगे तो जैन सस्कृति फिर से सजीवन और तेजस्वी बनेगी। अगर इस क्षेत्र मे जैन समाज ने कुछ पुरुषार्थ करके दिखलाया तो विना कहे दुनिया भर के मनीषी जैन शास्त्रो का अध्ययन करेंगे और इस नव प्रेरणा का उद्गम कहा है? उसे ढूण्ढेगे।

काका कालेलकर जी के शब्दो मे स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता का भली भांति परिचय प्राप्त हो जाता है। काका-कालेलकर ने इन शब्दो द्वारा जैन समाज को प्रेरणा प्रदान की है कि वह अनेकान्तवाद का देश-देशान्तरो मे प्रचार करे और इस के द्वारा विश्व की सामयिक समस्याओ को समाहित करके अनेकान्तवाद की सार्वभौमिकता प्रमाणित करने का श्रेय प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

उपसहार

भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद सिद्धान्त विश्व के समम्त दर्शनो, धर्मो, सम्प्रदायो, मतो, पन्थो का समन्वय करता है। वह विश्व को शिक्षा देता है कि विश्व के सभी धर्मों मे जहा-कही भी सत्याश है, उस का आदर करो और जो असत्याश है, उस को लेकर किसी से घृणा या द्वेष न करो। क्योकि घृणा या द्वेष आध्यात्मिक जीवन के सर्वोपरि शत्रु है। इन्ही से कर्म-जगत की सृष्टि होती है। आत्मा दुष्कर्मों के प्रवाह मे प्रवाहित हो जाती है। अत किसी से घृणा या द्वेष न रख कर, समता से सत्याश को ग्रहण करते हुए और असत्याश का परित्याग करते हुए जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करना चाहिए।

कर्म-वाद

भगवान महावीर का तीसरा सिद्धान्त कर्मवाद है। वाद सिद्धान्त को कहते हैं। जो वाद कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति और उन के फल देने आदि की विविध विशेषताओ का वैज्ञानिक ढग से विवेचन करता है, वह कर्मवाद कहलाता है। कर्मवाद के सम्बन्ध मे भारत के जैनेतर सभी दार्शनिको ने कुछ-न-कुछ लिखा है, अपने-अपने ढग से कर्मवाद को ले कर सभी ने कुछ न कुछ कहा है। किन्तु कर्मवाद की निश्चित गहराई तक जितना भगवान महावीर उतरे है अन्य कोई दार्शनिक नही उतर सका है। जैन दर्शन जैसा कर्मों का सर्वागीण विवेचन जैनेतर दर्शन मे कही उपलब्ध नही होता।

कर्मो का अस्तित्व

ससार एक रगमच है। यहा नाना प्रकार के पात्र हमारे सामने आते है। इन मे कोई अमीर है तो कोई गरीब, कोई सबल है तो कोई निर्बल, कोई विद्वान है तो कोई मूर्ख, कोई नीरोग शरीर वाला है तो कोई रोगो की शय्या पर सदा कराहता रहता है, किसी को सर्वत्र अभिनन्दन और स्वागत की ध्वनिया सुनने को मिलती है तो किसी पर दुतकार तथा तिरस्कार की वर्षा होती है, किसी के दर्शन के लिए जनमानस लालायित रहता है तो किसी को फूटी आख से भी कोई देखना पसद नही करता, कोई अन्न-कण को तरसता रहता है तो कोई अजीर्णता से व्याकुल है। इस तरह ससार के सभी पात्र नाना

रूपो मे दृष्टिगोचर होते है। आखिर इस विभिन्नता का कारण क्या है ? जीवनगत ये अन्तर क्यो देखे जाते हैं ? इस विचित्रता मूल मे कौन सी शक्ति काम कर रही है ? भगवान महावीर के विश्वासानुसार इस महाशक्ति का नाम कर्म है। यह कर्म ही संसार मे जीवन को नाना रूपो मे परिवर्तित करता रहता है।

जगत मे अनेको प्रकार की विषमताए पाई जाती है। आर्थिक और सामाजिक विषमताओ के अलावा प्राकृतिक विषमताएं भी है। उन सब का कारण मनुष्य नही हो सकता। जब सब मे एक सा आत्मा निवास करता है, तब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और वृक्षलताओ आदि के विभिन्न शरीरो और उन के सुख-दु ख आदि मे अन्तर क्यो है ? इस का भी तो कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण बिना कोई कार्य नही हो सकता। भगवान महावीर के मत मे इन समस्त विषमताओ का कारण कर्म है। भगवान महावीर ससार की इन सभी विभिन्नताओ के मूल मे कर्म को ही प्रधान कारण स्वीकार करते है।

भगवान महावीर के युग मे जीवनगत विभिन्न परिस्थितियो का उत्तरदायित्व ईश्वर पर डाला जाता था। "करे करावे आपो आप, मानुष के कुछ नाही हाथ" यही स्वर उस युग मे गूज रहा था किन्तु भगवान महावीर ने इस मान्यता को अयथार्थ बतलाया। भगवान का अटल विश्वास था कि जीवन मे अच्छी-बुरी जो अनेकविध अवस्थाए दृष्टिगोचर होती है, इन का कारण ईश्वर नही है, ईश्वर किसी को सुख या दु ख नही देता। जीवन मे जो दु खो के भूचाल आते है, उन मे न ईश्वर का हाथ है और न अन्य किसी दैविक शक्ति का हस्तक्षेप है। मनुष्य के सुख-दु ख का कारण कर्म है। और कर्म ही मनुष्य को सुख

दु:ख देता है।

सुख और दु ख के बीज मनुष्य की भावनाओ मे छुपे रहते है। सुख दु खो के भूले पर भूलने वाला हमारा वर्तमान-कालिक जीवन एक वृक्ष के समान है। उस के बीज हमारे अन्तर्जीवन को भूमि पर कही न कही प्रच्छन्न रहते है। यह बात अलग है कि एक अल्पज्ञ व्यक्ति इस सत्य का साक्षात्कार न कर सके। किन्तु उनको सत्यता से इन्कार नही किया जा सकता है। वही बीज अध्यात्म-जगत मे कर्म के नाम से व्यवहृत किए जाते है। ये कर्म ही मनुष्य को सुखी और दु खी बनाते हैं।

भारत के एक मनीषी सन्त ने इस सम्बन्ध मे कितनी सुन्दर बात कही है—

सुखस्य दु खस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अह करोमीति वृथाभिमान:,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक· ॥

अर्थात् सुख दु ख का देने वाला अपना ही शुभाशुभ कर्म है। सुख दु ख का दाता ईश्वर या अन्य किसी दैविक शक्ति को समझना एक बडी भारी भ्रान्ति है। मनुष्य का "मैं ही सब कुछ करता हू" ऐसा अभिमान करना भी व्यर्थ है वास्तव मे सारा ससार अपने कर्म रूप सूत्र से ही ग्रथित है।

इसी सत्य को हिन्दी कवि ने भी स्वीकार किया है। वह कहता है—

कोऊ न काऊ सुख-दु ख कौ दाता ।
निजकृत कर्म भोगी सब भराता ।।

इस प्रकार ससार के सभी मनीषी व्यक्तियो ने कर्म को ही सुख दु ख का दाता स्वीकार किया है । वस्तुस्थिति भी यही है ।

मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वय है—

भगवान महावीर के युग मे मनुष्य ईश्वर के हाथ की कठपुतली बन कर चल रहा था । जनमानस मे यह भ्रान्त धारणा पनप रही थी कि जगत के समस्त स्पन्दन ईश्वर की प्रेरणा से होते है । अच्छा बुरा सब ईश्वर कराता है । ईश्वर ही मनुष्य के भाग्य का स्वामी है, निर्माता है । मनुष्य तो पामर प्राणी है, वह बेचारा क्या कर सकता है ? किन्तु भगवान महावीर ने इस विचारधारा का विरोध किया, उन्होने मनुष्य की अन्तरात्मा को झकझोरते हुए अपने महास्वर मे कहा—मनुष्य ! तू स्वय ईश्वर है, तेरे ही अन्दर परमात्म-तत्त्व अगडाई ले रहा है, तू स्वय अपने जीवन-प्रसाद के रचयिता है, तेरी सृष्टि का निर्माण स्वय तेरे हाथो मे रहा हुआ है । तू स्वय अपने भाग्य का निर्माता है । स्वय ही तू सुख-दु ख की सृष्टि करता है । ईश्वर का उस के साथ कोई सम्बन्ध नही है । तू जिस तरह का कर्म करता है, उसी तरह का तुझे फल भोगना पडता है । किसान अपने खेत मे जैसा बीज बोता है, उसे उस का वैसा ही फल मिलता है । गेहू बो कर गेहू, और बाजरी बो कर बाजरी मिलती है । ठीक इसी प्रकार मानव को शुभ कर्म से इष्ट-योग और अनिष्ट-वियोग आदि की प्राप्ति होती है, तथा अशुभ कर्म करने से अनिष्ट-सयोग और इष्ट-वियोग

आदि उपलब्ध होते है। भूतकाल के शुभाशुभ कर्म के अनुसार शुभाशुभ वर्तमान की सृष्टि हुई है और वर्तमान जीवन का शुभाशुभ कर्म ही भावी-जीवन की शुभा-शुभ स्थितियो का आधार है। भावी जीवन का निर्माण मनुष्य के अपने हाथ मे रहता है। तू जैसा चाहे वैसे ही भविष्य की रचना कर सकता है। स्वर्ग और नरक तेरे हाथ मे रहते है। सुख दु:ख का ससार तू स्वय तैयार करता है। उस के लिए ईश्वर या किसी अन्य दैविक शक्ति को माध्यम बनाने की आवश्यकता नही है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने मनुष्य के भाग्य को ईश्वर या देवों के हाथ मे से निकाल कर स्वय मनुष्य के हाथ मे रखा और उसे ही उस का स्वामी बतलाया।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २०, गाथा ३६ मे स्वयं भगवान महावीर ने उक्त सत्य को दोहराया है। प्रभु वीर के अपने शब्द निम्नोक्त हैं—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दण वणं॥

अर्थात्—आत्मा ही नरक की *वैतरणी नदी है तथा कूटशाल्मली वृक्ष है। अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु गौ तथा नन्दन वन है।

---

*वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष नरक मे पाये जाते हैं। वैतरणी नदी का पानी पिघले हुए शीशे के समान होता है। नारकी अपनी प्यास बुझाने के लिए वहा जाता है, किन्तु उस के पानी को छूते ही कराह उठता है। शाल्मली वृक्ष के

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण या दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, सुप्पट्ठिओ दुप्पट्ठिओ॥

अर्थात्— आत्मा स्वय ही अपने सुखो और दुखो का कर्ता है, भोक्ता है। मित्र शत्रु भी यह स्वय ही है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु बन जाता।

कर्म स्वय अपना फल देता है—

भगवान महावीर का विश्वास है कि कर्म-फल के भुगतान के लिए ईश्वर नाम की किसी शक्ति को कल्पना करने की आवश्यकता नही है। फल देने की क्षमता कर्म-परमाणुओ मे ही निवास करती है। कर्म स्वय ही अपना फल दे डालता है। जिस प्रकार एक मनुष्य मदिरापान करता है और उस से मनुष्य पर जो प्रभाव पडता है, उस के लिए मदिरा के परमाणु ही कारण है, ईश्वर या कोई अन्य दैविक शक्ति उस मनुष्य को

पत्ते उस्तरे के समान तेज धार वाले होने है। नरक की गरमी से व्याकुल हुआ नारकी जब इस की छाया मे जाता है तो उस के शरीर पर उस वृक्ष के पत्र गिरते है और उसे उस्तरे की धार की तरह काटते चले जाते है।

कामधेनु गौ और नन्दन वन स्वर्गीय सम्पति है। कामधेनु गौ से समस्त कामनाए पूर्ण होती हे, और नन्दनवन आनन्दप्रद है, इस मे देवी-देवता भ्रमण किया करते है। आत्मा अपने ही शुभाशुभ आचरण से इन सब को प्राप्त करता है, इस लिए आत्मा को कामधेनु गौ, नन्दनवन, वैतरणी और शाल्मली वृक्ष कहा गया है।

बेहोश नही बनाती है, ठीक इसी प्रकार कर्म-योग्य परमाणु जब आत्मा से सम्बन्धित हो जाते है, समय आने पर वे परमाणु स्वय ही कर्म-कर्ता को फल दे डालते है। कर्म परमाणुओ के फलोन्मुख होने पर ही मनुष्य अपने को सुखी और दु खी अनुभव करता है।

"कर्म स्वय अपना फल देते है" इस सत्य को एक उदाहरण से समझिए।

कल्पना करो। एक मनुष्य भूल से पारा खा जाता है, उस से उस का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, वह रोगी बन जाता है। वह रोगी वैद्य से उस का उपचार कराता है, औषध ग्रहण करता है, और औषध के सेवन से उस का रोग दूर हो जाता है। अब कहिए। मनुप्य को रोगी वनाने वाला कौन है ? उत्तर स्पष्ट है, —पारे के परमाणु। तथा उसे स्वास्थ्य प्रदान करने वाला कौन है ? यह भी स्पष्ट है, औषध के परमाणु। इस तरह मनुष्य को रोगी वनाने वाले भी अशुभ परमाणु प्रमाणित होते है और उसे स्वस्थ वनाने वाले भी शुभ परमाणु ही हैं। यहा ईश्वर या किसी अन्य दैविक शक्ति का कोई हस्तक्षेप नही है। यहा तो मात्र परमाणुओ का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे मनुष्य के रोग और उसके स्वास्थ्य का कारण परमाणुपु ज है, वैसे ही जीवन मे जो सुख और दु ख की घडिया आती है, इन के पीछे भी शुभाशुभ कर्म-परमाणु ही कारण हैं। शुभाशुभ परमाणुओ की शुभाशुभ शक्तियो के कारण ही जीवन मे सुख दु.खो की सृष्टि होती है, जीवनगत सुख-दुखो का कारण ईश्वर या किसी अन्य दैविक शक्ति को नही समझना चाहिए। परमाणुओं में

जो अद्‌भुत शक्तिया निवास करती है, आज के परमाणुयुग मे उन्हे दोहराने की आवश्यकता नही है। वे सूर्य के प्रकाश के तुल्य सर्वथा स्पष्ट है। कर्मपरमाणुओ की इन विभिन्न शक्तियो आधार पर ही जीवन मे अनेकविध उतार-चढाव दिखाई देते हैं।

जीवन मे जो सुख दु ख दृष्टिगोचर होते है, उन सबका कारण कर्म है। कर्म ही जीवन मे सुख दु ख लाता है। हमारा व्यवहार इस सत्य का साक्षी है। कोई आदमी अपनी आखे बन्द कर के यदि कूए की ओर चलता है, और उस मे गिर जाता है तो कुए मे गिरने का कारण वह स्वय ही है। उसे किसी ईश्वर आदि ने कूए मे डाल दिया है, ऐसा नही कहा जा सकता। पर्वत से सर टकराने वाला मनुष्य सर फडवा लेता है। दीवाल से छलाग लगाने वाला व्यक्ति जीवन से हाथ धो वैठता है। ऐसे अन्य भी अनेको घटना-स्थल हमारे सामने है, जिन्हे देख कर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कर्मफल का प्रदाता कर्म स्वय ही है, ईश्वर आदि का उस के साथ कोई सम्बन्ध नही है। "कर्म फल प्रदाता ईश्वर नही है" इस सम्बन्ध मे विस्तार के साथ स्वतत्ररूपसे इसी पुस्तक के "ईश्वर-वाद" नामक प्रकरण मे प्रकाश डाला जायगा।

कर्म करने मे जीव स्वतत्र है—

हमारे पडौसी वैदिक दर्शन मे कहा गया है कि ससार मे मनुप्य जो भी कुछ करता है, उस का मूल प्ररेक ईश्वर है, ईश्वर के सकेत के विना पत्ता भी कम्पित नही हो सकता, किन्तु भगवान महावीर का ऐसा विश्वास नही है। भगवान महावीर का विश्वास है कि कर्म करने मे जीव स्वतत्र है।

अच्छा या बुरा जो चाहे कोई भी वह कर्म कर सकता है। इस पर किसी की ओर से कोई भी प्रतिबन्ध नही लगा हुआ है।

यदि यह मान लिया जाए कि '—मनुष्य जो कुछ करता है उसका मूल प्रेरक ईश्वर है। ईश्वर के सकेत के बिना पत्ता भी कम्पित नही हो पाता है—"। तो ऐसे अनेको प्रश्न उपस्थित हो जाते है, जिनका कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता है। हम देखते है कि ससार मे पापाचार हो रहा है, भ्रष्टाचार फैल रहा है, कही भेड, बकरी, गाय, भैंस आदि पशुओ की गरदनो पर छुरिया चलाई जा रही है, उनके रक्त के साथ होली खेली जा रही है, कही राह चलती लडकियो के साथ अश्लील उपहास किया जाता है, उन पर कुदृष्टियो के प्रहार हो रहे है, कही पतिव्रता नारियो के पातिव्रत्य-धर्म को लूटा जा रहा है, कही विधवाओ की शील के साथ खिलवाड की जा रही है, उनकी धरोहर को अजगर की भाति निगला जारहा है, कही सत्सग मे जूतिया चुराई जाती है, कही धर्म-स्थानो के दानपात्र तोडे जा रहे है, कही मन्दिर के देवी देवताओ के वस्त्राभूषण चुराए जाते है। इस प्रकार और भी न जाने ससार मे कितने कुकर्म किए जा रहे है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब कुछ किसके आदेश हो रहा है? ये अमानुषिक व्यवहार किस की प्रेरणा से जीवन पाते है? कौन है वह शक्ति, जो यह सब कुछ कराती है? यदि वह ईश्वर है तो हम पूछते है कि पापाचार और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देने वाली ऐसी अधम शक्ति के लिए ईश्वर जैसी पवित्र और निष्कलक सज्ञा दी जा सकती है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नही। जो ससार के उज्ज्वल भविष्य को आग लगाने की प्रेरणा

प्रदान करता है, और ससार मे अन्याय और अनीति का झंझा-वात चलाकर मानवजगत को पापो के सागर मे निमग्न करवा देता है, सन्नारियो के पातिव्रत्य धर्म को लुटवादेता है। उसे ईश्वर कहना ईश्वर शब्द का ही दुरुपयोग करना है। ईश्वर जैसी पतितपावन और निष्कर्म महाशक्ति इस प्रकार के पाप-पूर्ण झंझट मे कभी हस्तक्षेप नही कर सकती और नाही वह किसी जीव को ऐसे अधमकर्म करने की प्रेरणा प्रदान कर सकती है। इसीलिए भगवान महावीर कहते है कि कर्म करने मे जीव स्वतत्र है, ईश्वर के साथ उस का कोई सम्बन्ध नही है, वह ससार के किसी झंझट मे कोई हस्तक्षेप नही करता है।

दूसरी बात, यदि ईश्वर को कर्म का कराने वाला मान लिया जाएगा तो ससार मे न कोई पापी कहा जा सकता है, और न किसी को चोर, डाकू, गाठकतरा, वेश्यागामी, परस्त्री-लम्पट, आततायी, कसाई, कृतघ्न आदि कह कर घृणित या निन्दित समझा जा सकता है। क्योकि ईश्वर ने जिस किसी जीव से जो कर्म कराना पसन्द किया, उस जीव ने वैसा ही कर्म कर दिया। जीव अपनी इच्छा से तो कुछ कर ही नही सकता है, जो ईश्वर कराता है जीव वह कर देता है। इस प्रकार ईश्वर को सर्वेसर्वा मानकर कर्म कर्ता जीव को बुरा या नीच आदि शब्दो से व्यवहृत नही किया जाना चाहिए। क्योकि उस वेचारे का अपना तो कोई दोप है ही नही, ईश्वर की जैसी आज्ञा होती है वह वैसा कर देता है। ईश्वर की आज्ञानुसार चलने पर जीव को दोपी या पापी कहा व समझा भी कैसे जा सकता है? इस प्रकार जीव की अच्छी-वुरी सारी प्रवृत्तियो का सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही आ पड़ता है,

और उन शुभाशुभ प्रवृत्तियो का उत्तरदायी होने से शुभाशुभ फल भी ईश्वर को ही मिलना चाहिए । पर ऐसा देखा नही जाता है । देखा यह जाता है कि जीव स्वय ही अपने शुभाशुभ कर्म का शुभाशुभ फल पाता है । अत जीव को ही कर्म का कर्ता मानना चाहिए । ईश्वर के आदेश से ही सब कुछ होता है, ऐसा कभी नही समझना चाहिए ।

इस के अलावा, एक वात और समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक जीव शुभ कर्म द्वारा अपना जीवन उज्ज्वल वना सकता है ! भगवान महावीर के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का उत्थान और कल्याण कर पकता है । स्त्री हो या पुरुष, राजा हो या रक, काला हो या गोरा, भारतीय हो या अभारतीय, कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से सम्यक् चारित्र की साधना करने पर एक दिन सभी मोक्ष के अधिकारी हो सकते है । जीवन की उन्नति या प्रगति किसी की वैयक्तिक, पाविारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सम्पत्ति नही है, उसे किसी देश, जाति या सम्प्रदाय के सकुचित क्षेत्र मे सीमित नही किया जा सकता है । यह तो प्राणवायु की तरह सब के उपयोग की वस्तु है । मिश्री किसी विशेष व्यक्ति या परिवार के लिए मीठी नही होती है जो भी उसका ग्रहण करता है, उस को उसकी मिठास का अनुभव हो जाता है । चाहे कोई शूद्र हो या चण्डाल, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, राजा हो या रक, भोगी हो या योगी, विद्वान हो या मूर्ख, सवल हो या निर्बल, धनी हो या निर्धन, मिश्री प्रत्येक व्यक्ति को मिठास प्रदान करती है । ऐसे ही कर्म-सिद्धन्त सभी को उन्नति का अवसर देता है, इसके यहा कोई भेदभाव नही है ।

जिस प्रकार कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव शुभ कर्म द्वारा उन्नति का अवसर प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धात के अनुसार प्रत्येक जीव अशुभ कर्म के द्वारा अपना भविष्य बिगाड भी लेता है। हिसा, असत्य आदि दुष्कर्मो द्वारा वह दुर्गतियो मे जा पडता है। भाव यह है कि शुभ कर्म से मनुष्य जीवन को बना भी सकता है। और अशुभ से उसे बिगाड भी लेता है। जीवन को बनाने वाले और बिगाडने वाले जीव के अपने किए हुए कर्म ही है और इन कर्मो के करने मे जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। चाहे वह शुभ कर्म करे चाहे अशुभ, यह उस की इच्छा की बात है। ईश्वर न उस मे साधक बनता है और न बाधक बनता है। इसीलिए भगवान महावीर कहते है कि कर्म करने मे जीव स्वतत्र है। ईश्वर जीव से न अच्छा कर्म कराता है, और न बुरा कर्म कराता है। यदि सक्षेप मे कहे तो, ईश्वर का जीव के किए हुए कर्म के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है।

कर्मफल भोगने मे जीव परतंत्र है—

भगवान महावीर का कर्म-सिद्धान्त कहता है कि जीव कर्म करने मे सर्वथा स्वतत्र है, अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म करना चाहे वह कर सकता है। किन्तु उसका फल भोगने मे वह स्वतत्र नही है, परतत्र है। उसकी अनिच्छा से कर्म का फल रुक नही सकता। कर्म करना या न करना यह जैसे मनुष्य के वश मे होता है, वैसे कर्म का फल भोगना या न भोगना यह उसके वश की बात नही है। जब तक किया गया कर्म यदि तप, जप और सयम आदि धार्मिक अनुष्ठानो द्वारा क्षय नही किया जाता तब तक उससे पिण्ड नही छूट सकता। समय

आने पर वह अपने कर्ता को अवश्य फल देता है। इसीलिए भगवान महावीर कहते है—

"कडाण कम्माण न मोक्खु अत्थि"

अर्थात्— कृत कर्म का नाश नही होता है। जब तक कृत कर्म का उपभोग न कर लिया जाए या तपस्या द्वारा उसे क्षय न कर दिया जाए तब तक वह नष्ट नही होने पाता।

महाभारत पर्व ३, अध्याय २०७ श्लोक २७ मे भी इसी सत्य को दोहराया गया है। वहा लिखा है—

अन्यो हि नाश्नाति कृत हि कर्म,
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्।
यत्तेन किंचिद्धि कृत हि कर्म,
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाश ॥

अर्थात्–इस मनुष्य लोक मे एक मनुष्य के द्वारा किए गए कर्मो का फल दूसरा नही भोगता है। जिसने जैसे शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन किया है उनका उपभोक्ता भी वही होता है। कारण कि बिना फल भोगे स्वकृत कर्मो से छुटकारा नही हो सकता है।

भगवान महावीर का सिद्धान्त कहता है कि जीव कर्म-फल भोगने मे परतत्र है, कृत कर्म का भुगतान जीव को करना ही पडता है, उस को बिना भोगे या तपस्या आदि द्वारा क्षय किए बिना उससे पिण्ड नही छूटता है। किन्तु जीव की परतन्त्रता का अर्थ यह नही समझ लेना चाहिए कि–'जीव जो कर्म करता है, उसका फल ईश्वर देता है, और वह उसी के अधीन है इसीलिए

जीव कर्मफल भोगने मे परतन्त्र है —" । भगवान महावीर का विश्वास है कि कर्मों का फल ईश्वर नही देता, ईश्वर का उसके साथ कोई सम्बन्ध नही है। कर्म-परमाणुओं मे स्वय ही फल देने की क्षमता है। मदिरा का नशा मदरासेवो को जैसे स्वत ही चढ जाता है, उसके लिए किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नही रहती है, इसी भाति कर्म अपना फल समय आने पर स्वय ही दे डालते है, इस मे भी ईश्वर आदि किसी शक्ति को माध्यम बनाने की आवश्यकता नही है। कर्मफल भोगने मे जीव की परतन्त्रता का इतना ही रहस्य कि जीव की अनिच्छा से कर्म-परमाणुओ का शुभाशुभ परिणाम (फल) रुक नही सकता। वह तो प्रत्येक दशा मे उसे भोगना ही पडता है।

कर्मवाद और साम्यवाद—

भगवान महावीर का कर्मवाद आज की वैज्ञानिक भाषा मे साम्यवाद कहा जा सकता है। जिस प्रकार साम्यवाद ससार को समानता का उपदेश देता है। उसी प्रकार भगवान महावीर का कर्मवाद भी प्रत्येक आत्मा को समानता की बात कहता है। वह बतलाता है कि जैसी आत्मा ब्राह्मण मे है, वैसी ही आत्मा शूद्र मे भी है। जैसी आत्मा राजा मे है वैसी ही रक मे है, इसी प्रकार जैसी आत्मा योगियो मे है वैसी ही भोगियो मे है। कर्मवाद ने आत्मा को ही महत्त्व दिया है, जड शरीर का इसके यहा कोई प्रश्न नही है। शरीर काला है या गोरा, छोटा है या बड़ा, सुन्दर है या असुन्दर, इससे कोई मतलब नही है। कर्मवाद आत्मिक आचरण को आगे रखकर ही मनुष्य के सुन्दर या असुन्दर होने का निर्णय करता है। कर्मवाद का विश्वास है कि

जन्म से कोई सुन्दर, उच्च या पूज्य नही है, और जन्म से ही कोई असुन्दर, नीच या अपूज्य नही है। सुन्दरता, उच्चता या पूज्यता का सम्बन्ध केवल आत्मिक जीवन से है। जाति के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं। जैन-दर्शन मे जन्मना जाति को कोई महत्त्व प्राप्त नही है, वहा तो संयम की ही पूजा होती है। कितना सुन्दर कहा है—

जाति को काम नही जिन मारग।
संयम को प्रभु आदर दीने ॥

कर्मवाद का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने स्वय फरमाया है—

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात्–मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। भाव यह है कि जन्म से कोई अछूत या अस्पृश्य नही है। और जीवनोन्नति और अवनति का कारण मनुष्य का अपना कर्म है।

किसी के यहा *शूद्र तथा नारी को धर्मशास्त्र पढने या सुनने का भी अधिकार नही है। कोई कहता कि नारी जीवन कभी मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। †नारी किसी भी स्थिति मे स्वतन्त्र रहने योग्य नही है, क्योकि वह पुरुष प्रधान है अर्थात् उस पर पुरुष का स्वामित्व है। कोई कहता है, कि ‡स्त्रिया,

* न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयताम्।

† अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना। वशिष्ठस्मृतौ ५–१।

‡ स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा, येऽपि स्यु पापयोनय। गीता ९-३२

वश्य और शूद्र ये सव पापयोनि है, कोई कहता है कि *शूद्र को ज्ञान नही देना चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न होम से बचा हुआ भाग और न उसको धर्म का उपदेश ही देना चाहिए। यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश देता है तो वह शूद्र के साथ असवृत नामक अन्धकारमय नरक मे जा पडता है। किन्तु भगवान महावीर का ऐसा विश्वास नही है। भगवान महावीर का कर्मसिद्धान्त सभी प्राणियो को धर्म-शास्त्र पढने का अधिकार देता है और सभी योग्य व्यक्तियो को मुक्ति का वरदान प्रदान करता है। कर्मवाद का विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा योग्य साधन अपनाने पर परमात्मा पद को पा सकता है। लोहा सदा लोहा नही रहता, वह भी एक दिन पारस का सम्पर्क पा कर स्वर्ण बन सकता है। भव्य आत्मा भी सदा कर्म लिप्त नही रहने पाती, यदि वह अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी मे स्नान करले तो मुक्ति उससे दूर नही रहती है। भगवान महावीर का कर्मसिद्धान्त सभी के लिए स्वर्ग और अपवर्ग का द्वार खोल देता है। इसके सामने ब्राह्मण, क्षत्रिय का कोई प्रश्न नही है। सदाचारी चण्डाल भी यदि इसके सामने आ जाता है तो यह उस का भी पूर-पूरा आदर करता है, उसे भी मुक्ति के शाश्वत सुख से ओतप्रोत कर डालता है।

---

* न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्ट न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद् धर्म, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥
यश्चास्योपदिशेद् धर्म, यश्चास्य व्रतमादिशेत्।
सोऽसवृत तमो घोर, सह तेन प्रपद्यते ॥
वशिष्ठ स्मृतौ १८-१२-१३

†जैनेतरदर्शन की भाति यह किसी पूज्य की पूज्यता का अपलाप नही करता है। पूज्य की पूज्यता को सम्मान देकर भगवान महावीर का कर्मवाद मानव जगत को साम्यावाद का वास्तविक सन्देश देता है।

कर्म आत्मा का गुण नही है–

कुछ दार्शनिक कर्मों को आत्मा का गुण मानते है, पर भगवान महावीर कर्मो को गुण रूप से स्वीकार नही करते हैं। क्योकि कर्म यदि आत्मा के गुण मान लिए जाऐ तो वे बन्धन-रूप नही हो सकते ! आत्मा के गुण ही आत्मा को वाध ले, यह सर्वथा असभव है। यदि आत्मा के गुण स्वय ही उसे वाधने लगे तो उसकी मुक्ति कैसे हो सकेगी ? वन्धन मूल वस्तु से भिन्न हुआ करता है। वन्धन पदा विजातीय होता है। अत कर्मो को आत्मा के गुण नही कहा जा सकता। इसके अलावा यदि कर्मो को आत्मा का गुण मान लिया जाए तो कर्मो का नाश होने पर आत्मा का नाश भी स्वीकार करना पड़ेगा। सिद्धान्त है कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न नही होते। गुण के नाश से गुणी का नष्ट हो जाना स्वाभाविक है। और आत्मा को प्राय' सभी दार्शनिक नित्य मानते हैं। अत. नित्य आत्मा के विनश्वर कर्म कभी गुण नही माने जा सकते है।

कर्म शब्द का अर्थ—

कर्म सिद्धान्त को जेन, साख्य, योग,, नैयायिक, वैशेषिक,

---

†—दु शीलोऽपि द्विज पूज्यो, न शूद्रो विजितेन्द्रिय ।

अर्थात्— ब्राह्मण दुश्चरित्र हो, तब भी पूज्य है और शूद्र जितेन्द्रिय होने पर भी पूज्य नही है। पाराशरस्मृति ८-३२

मीमासक आदि सभी आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है किन्तु अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी इसे स्वीकार करता है। इस तरह ईश्वरवादी और अनीश्वर वादी सभी इस मे प्राय एकमत है। किन्तु इस सिद्धान्त मे एकमत होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उस के फल देने के सम्बन्ध मे इन मे महान मतभेद मिलता है।

कर्मशब्द के अनेको अर्थ पाए जाते है। काम धन्धे के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना, पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया का भी कर्म के नाम से व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कर्म-काण्डी मीमासक याग आदि क्रिया-काण्ड के अर्थ मे, स्मार्त विद्वान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारो वर्णो तथा ब्रह्मचर्य आदि चारो आश्रमो के लिए नियत किए गए कर्म रूप अर्थ मे, पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओ के अर्थ मे, व्याकरण के निर्माता "कर्ता जिस को अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है" इस अर्थ मे, नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाच. साकेतिक कर्मों मे कर्म शब्द का व्यवहार करते है, किन्तु जैनदर्शन मे एक पारिभाषिक अर्थ मे इस का व्यवहार किया जाता है। जैनदर्शन का कर्म सम्बन्धी पारिभाषिक अर्थ पूर्वोक्त सभी अर्थो से भिन्न और विलक्षण मिलता है। जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार कर्म नैयायिको या वैशेषिको की भाति क्रियारूप नही है, किन्तु पौद्गलिक है, द्रव्य रूप है, आत्मा के साथ प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध रखने वाला एक अजीव द्रव्य है।

जैन दृष्टि से कर्म, द्रव्य और भाव, इन भेदो से दो प्रकार का होता है, जीव से सम्बद्ध कर्म-पुद्गलो को द्रव्य कर्म कहते

है और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग द्वेपरूप भावो को भावकर्म कहा जाता है।

भाव यह है कि जब कोई आत्मा किसी भी प्रकार का कोई सकल्प या विकल्प करता है, राग द्वेप पूर्ण चिन्तना मे व्यस्त हो जाता है, काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि जीवनविकारों का उस मे प्रादुर्भाव होता है तो आत्मप्रदेशो मे एक प्रकार की हलचल सी पैदा होती है, उस समय उसी प्रदेश मे स्थित कर्म-योग्य पुद्गल (परमाणु पुञ्ज) आत्मा मे आते है और उस से सम्बन्धित हो जाते है। खौलते तेल मे पडी पूरी जैसे तेल को खीच लेती है वैसे ही शुभाशुभ अध्यवसाय के कारण आत्मा शुभाशुभ कर्मपरमाणुओ को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। आत्मा और कर्मपुद्गलो का मेल ठीक वैसे ही होता है, जैसे दूध और पानी या लोहे और आग का होता है। इस प्रकार आत्मप्रदेशो के साथ कर्मबन्ध को प्राप्त पुद्गलो का नाम ही द्रव्य कर्म है । यह कर्म पुद्गल रूप होने से मूर्त है, जड है। द्रव्यकर्म राग द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा प्रदेशो के साथ बधा है, इस लिए राग द्वेषरूप भावो को भावकर्म कहते है। द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है और भाव-कर्म द्रव्य कर्म का। द्रव्यकर्म के विना भावकर्म नही रहता और भावकर्म के विना द्रव्यकर्म नही रहने पाता । दोनो का अविनाभावी सम्बन्ध है, एक के विना दूसरा जीवित नही रह सकता दोनो सदा साथ-साथ रहते है।

कर्मो को आठ मूल प्रकृतिया–

काम, क्रोध आदि जीवनगत विकारो से आत्मा कर्मबन्ध को प्राप्त कर लेती है, यह ऊपर बताया जा चुका है। उक्त

जीवनविकारो के कारग मानप मे जो अध्यवसायविशेप पैदा होते है उनसे आत्मा द्वारा एक ही वार जो कर्म योग्य परमाणु-पुज ग्रहग किया जाता है, उस मे आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार एक ही साथ अनेक स्वभावो का निर्माण होता है । वे स्वभाव अदृश्य है, तथापि उनके कार्यो को देख कर उन का परिगणन किया जा सकता है । एक या अनेक जीवो पर होने वाले कर्म के असख्य प्रभाव अनुभव मे आते है । इन प्रभावो के उत्पादक स्वभाव भी वास्तव मे असख्य है । ऐसा होने पर भी स्थूल दृष्टि से वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागो मे बाट दिया गया है। यही आठ भाग कर्मों की मूल प्रकृतिया (भेद) कहलाते है। कर्मो की वे आठ मूल प्रकृतिया निम्नोक्त हैं—

१ ज्ञानावरणीय—कर्म—वस्तु के विशेष बोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कहा जाता है। यह कर्म सूर्य को आच्छादित किए हुए मेघो की तरह आत्मा की ज्ञान ज्योति को ढक लेता है।

२ दर्शनावरणीय कर्म-वस्तु के सामान्य वोध का नाम दर्शन है। आत्मा की दर्शन-शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय होता है। यह कर्म द्वारपाल के समान है। जेसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने मे रुकावट डाल देता है, उसी प्रकार यह कर्म भी पदार्थों के देखने मे वाधक वन जाता है । दर्शनावरणीय कर्म जहा देखने मे वाधा डालता है वहा वह प्राणी को निद्रित भी करता है। प्राणी को जो निद्रा आती है वह इसी के प्रभाव से आती है।

३ वेदनीय कर्म–जिस कर्म के द्वारा सुख-दु ख की उपलब्धि हो उस कर्म का नाम वेदनोय है । इस कम का फल मधुलिप्त तलवार को चाटने के समान होता है। धारा को चाटने पर शहद के चाटने से मिठास-जन्य सुख और जीभ के कट जाने पर व्रणजन्य दु ख दोनो की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार वेदनीय कर्म भी जीवन मे सुख-मय और दु.ख-मय वातावरण लाने का कारण बनता है।

४ मोहनीय कर्म--जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, उसे भले बुरे के विवेक से शून्य बना डालता है। अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का और चारित्र गुण का घात करता है उस कर्म को मोहनीय कहते है। यह कर्म मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीकर व्यक्ति हेय और उपादेय के विवेक को खो बैठता है, परवश हो जाता है, वैसे ही जीव इस कर्म के प्रभाव से सत्-असत् का विवेक खो कर कामनाओ और वासनाओ का दास बन जाता है।

५ आयुष्कर्म–जिस कर्म की सत्ता से प्राणी जीवित रहता है और क्षीण हो जाने से मृत्यु को प्राप्त करता है वह कर्म आयुष्कर्म कहलाता है। यह कर्म कारागार (जेल) के समान हैं। जिस प्रकार कारागार मे दिया हुआ व्यक्ति चाहता हुआ भी नियत अवधि से पूर्व नही छूट नही सकता, उसी प्रकार आयुष्कर्म के प्रभाव से जीव नियत समय तक अपने शरीर मे बन्धा रहता है।

६ नामकर्म–जिस के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन नामो से सम्बोधित होता है उसे नामकर्म

कहते है। यह कर्म चित्रकार के तुल्य है। जैसे चित्रकार विविध वर्णो से अनेक प्रक.र के विचित्र चित्र बना डालता है। वैसा ही काम नामकर्म का होता है। यह कर्म जीव को नारक, तिर्यञ्च आदि नानविध अवस्थाओ का उत्पादक बन कर उसे इन सज्ञाओ से व्यवहृत कराता है।

७ गोत्रकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच शब्दो से व्यवहृत किया जाता है उस को गोत्र कर्म कहते हैं। इस कर्म के प्रभाव से जीव जाति (मातृ पक्ष) कुल (पितृ पक्ष) आदि की अपेक्षा छोटा या वडा कहा जाता है। यह कर्म कुम्हार के समान है। कुम्हार जैसे आदरास्पद और घृणास्पद दोनो प्रकार के भाजन बनाता है वैसे ही यह कर्म, जाति, कुल आदि की अपेक्षा से जीव को ऊच और नीच बना डालता है। मातृवश की निर्दोषता, उत्तमता जातीय उच्चता है और उस की सदोषता, निकृष्टता जातीय नीचता है तथा पितृवश की धार्मिकता, नैतिकता, प्रामाणिकता कुल सम्वन्धी उच्चता है और उस की अन्यायप्रियता, अप्रामाणिकता ही कुल-सम्वन्धी नीचता है। जाति तथा कुल आदि सम्वन्धी उच्चत्ता और नीचता की प्राप्ति का कारण गोत्रकर्म है।

८ अन्तराय कर्म–जिस कर्म के प्रभाव से दान, लाभ आदि प्रवृत्तियो मे विघ्न पडता है उस को अन्तराय कर्म कहते है। यह कर्म कोषाध्यक्ष के समान है। राजा की आज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर जैसे प्रार्थी को धन-प्राप्ति मे वाधा का सामना करना पडता है, वेसे ही यह कर्म दान, लाभ आदि प्रवृत्तियो मे विघ्न उपस्थित करता

है। दाता देना चाहता है, याचक लेना चाहता है, देय वस्तु भी प्रस्तुत है किन्तु अन्तराय कर्म के प्रभाव से ऐसी बात बन जाती है कि दाता दे नही सकता और याचक ग्रहण नही कर पाता।

कर्मो की उत्तर प्रकृतिया तथा बन्ध, भोग सामग्री—

कर्मो की आठ मूल प्रकृतियो का संक्षिप्त वर्णन ऊपर कर दिया गया है। जैनदर्शन ने कर्मसिद्धान्त का वर्णन यही तक सीमित नही रखा है। कर्मो की मूल प्रकृतिया बताने के साथ-साथ जैनदर्शन ने कर्मों की उत्तर प्रकृतियो का बहुत सुन्दर ढग से निरूपण किया है। कर्मों को उत्तर प्रकृतिया १५८ होती है। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५, कुल मिलाकर उत्तर प्रकृतिया या †उत्तर भेद १५८ बन जाते है। इसके अलावा जैनदर्शन ने कर्मो के बन्ध कारणो का तथा उन की भोग सामग्री का भी निर्देश किया है। नवतत्त्व मे लिखा है कि ज्ञानावरणीय कर्म का बंध ६ कारणो से होता है, १० प्रकार उसे भोगा जाता है। दर्शनावरणीय को ६ कारणो से बाधा जाता है और ९ प्रकार से उसे भोगा जाता है, इसी प्रकार वेदनीय कर्म २२ कारणो से बाधा जाता हे और १६ प्रकार से भोगा जाता है, मोहनीय ६ कारणो से बाधा जाता है और ५ प्रकार से भोगा जाता है,

---

†इह नाण-दसणावरण-वेद-मोहाउ-नाम-गोयाणि।
विग्घ च पण-नव-दु-अट्ठवीस-चउ-तिसय-दु-पणविह।
(कर्मग्रन्थ भाग १)

आयुष्कर्म १६ कारणो से बांधा जाता है और चार प्रकार से भोगा जाता है, नाम कर्म ८ कारणों से बांधा जाता है और २८ प्रकार से भोगा जाता है, गोत्र १६ कारणो से बांधा जाता है और १६ प्रकार से भोगा जाता है, और अन्तराय कर्म का बन्ध ५ कारणो से पड़ता है और ५ प्रकार से ही उसका उपभोग किया जाता है। कर्मों की उत्तरप्रकृतियों तथा बन्ध, भोग सामग्री की व्याख्या जानने के लिए हमारे सहृदय पाठकों को पण्डित सुखलाल जी द्वारा सम्पादित कर्म-ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए। यदि कोई सक्षेप मे इनका स्वरूप जानना चाहे उसे मेरे द्वारा अनुवादित श्री विपाक सूत्र के "प्राक्कथन" को पढ़ लेना चाहिए। यहां तो केवल जैनदर्शन ने कर्मवाद के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म और गभीर चिन्तन आध्यात्मिक जगत के सामने उपस्थित किया है, उस की झांकी दिखाने के लिए ये पक्तिया लिखी गई हैं।

कर्म बड़े बलवान होते हैं—

कर्म एक शक्ति है यह बड़ी बलवान होती है इसके आगे किसी का वश नहीं चलता है। कर्मशक्ति का प्रकोप जिस जीवन मे हो जाता है, उसे लोमहर्षक स्थितियो का सामना करना पड़ता है। जनसाधारण की बात तो जाने दीजिए। इसके प्रकोप से अनन्तबली तीर्थंकर,, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि सभी महापुरुषो को अनेकानेक कष्ट उठाने पड़े है। इतिहास बतलाता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को बारह महीनो तक निराहार रहना पड़ा, कर्मशक्ति के प्रकोप के कारण ही चरमतीर्थंकर भगवान महावीर को साढे बारह वर्ष तक

असह्य और भीषण उपसर्गों का सामना करना पड़ा, सगर चक्रवर्ती को एक साथ ६० हजार पुत्रो के मरण का दुःख भुगतना पड़ा, छह खण्ड के नाथ सनत्कुमार चक्रवर्ती को १६ रोगो का भयंकर कष्ट सहन करना पड़ा, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम को १४ वर्षो तक वनो की धूलि चाटनी पड़ी, कर्मयोगी वासुदेव कृष्ण को कारागार मे जन्म लेना पडा और पाण्डवो को बारह वर्ष सकट झेलने पडे, तथा अज्ञातवास मे समय व्यतीत करना पडा। यह सब कर्मशक्ति के प्रकोप का ही परिणाम था। इसीलिए यह मानना पडता है कि कर्मशक्ति सर्वोपरि है। इस के आगे सभी शक्तिए निर्बल है। इस महाशक्ति पर जिस ने विजय प्राप्त करली है, वही ससार मे सुखी होता है, धीरे-धीरे निष्कर्मता की पगडण्डियो को नापता हुआ एक दिन वह निर्वाण पद को उपलब्ध कर लेता है।

कर्मसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

कर्मसिद्धान्त को लेकर जनमानस मे अनेको प्रश्न चक्र लगा रहे हैं। उन के सम्बन्ध मे भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। आगे की पक्तियो मे उन्ही के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर के रूप मे कुछ विचार प्रस्तुत किये जाएगे।

प्रश्न—जीव को *अमूर्त और कर्म को मूर्त पदार्थ माना जाता है, ऐसी दशा मे इन का परस्पर कैसे सम्बन्ध होता है, अर्थात् मूर्त पदार्थ अमूर्त पदार्थ को कैसे पकड़ लेता है?

---

* जिस पदार्थ मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाए जाते हैं, उसे मूर्त कहते है, जिसमे ये रूप आदि न हो, उसे अमूर्त कहा जाता है।

उत्तर–आकाश अमूर्त है, और घट, पट आदि पदार्थ मूर्त माने गए है। जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्ध चलता है वैसे ही अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध रहता है।

मूर्त अमूर्त पर कैसे छा जाता है ? यह एक उदाहरण से समझिए। आकाश अमूर्त है, और अन्धेरो मूर्त है। जब अन्धेरी चलती है तो अमूर्त आकाश पर छा जाती है, सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो जाता है। आकाश सर्वथा निर्मल और स्वच्छ होता है, किन्तु अन्वेरी उसे धुलिमय वना देती है। वंसे ही आत्मा अमूर्त होने पर भी मूर्त कर्म से आच्छादित हो जाती है।

प्रश्न—मूर्त वायु और अग्नि का जैसे आकाश पर काई प्रभाव नही पडता है, उसी प्रकार मूर्त कर्म का भी अमूर्त आत्मा पर कोई प्रभाव नही पडना चाहिए ?

उत्तर—मूर्त पदार्थ का अमूर्त पदार्थ पर कोई प्रभाव नही पडता है। यह कोई सिद्धान्त नही है। क्योकि देखा जाता है कि मूर्त पदार्थ अमूर्त पदार्थ पर पूर्णतया अपना प्रभाव डालता है। आत्मा अमूर्त है, उसका ज्ञान गुण भी अमूर्त है, मदिरा,भाग आदि मादक पदार्थ सेवन करने पर वह विकृत हो जाता है। इस से स्पष्ट है कि मूर्त पदार्थ अमूर्त पदार्थ को प्रभावित किए बिना नही छोडता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है। जैसे आत्मा के अमूर्त ज्ञान गुण पर मूर्त मदिरा, विष, औषध आदि पदार्थों का असर पडता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर मूर्त कर्म भी अपना प्रभाव दिखलाता है। इसके अलावा जैनदर्शन आत्मा को कथञ्चित् मूर्त भी मानता है।

वह कहता है कि ससारी जीव अनादिकाल से कर्मो के प्रवाह मे प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है। इसप्रकार अनादिकालीन कर्म सन्तति के सम्बद्ध रहने के कारण जीव को सर्वथा अमूर्त नही कहा जा सकता। अनादिकाल से कर्मो द्वारा सम्वन्धित रहने के कारण जीव कथचित् मूर्त भी है। ऐसी दशा मे मूर्त जीव पर मूर्त कर्म का प्रभाव पडना अस्वाभाविक नही है।

प्रश्न—कर्म जड़ है, जडत्व के कारण शुभाशुभ का उसे कुछ पता नही है मनुष्य अपने अशुभ कर्म का फल पाना नही चाहता । ऐसी दशा मे मनुष्य कर्म का फल कैसे प्राप्त करता है ?

उत्तर—यह सत्य, है कि कर्म जड है, तथापि उसमे मदिरा और दूध की भाति बुरा या अच्छा प्रभाव डालने की शक्ति निवास करती हे जो चेतन आत्मा का सम्वन्ध पाकर अपने आप समय पर प्रकट हो जाती है और आत्मा पर अपना प्रभाव डाल देती है, उस प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव अशुभ कर्म के अशुभ फल की इच्छा के न होने पर भी ऐसे-ऐसे काम कर डालता है, जिससे उसे स्वत ही स्वकृत अशुभ कर्म के अनुसार अशुभ फल मिल जाता है। उसकी इच्छा हो या न हो, पर शुभाशुभ कर्म अपना फल अवश्य दे डालता है। कर्म फल के न चाहने से कर्मफल नही मिलेगा, ऐसा कोई सिद्धान्त नही है।

कि विप का प्रभाव खतम हो जाए। वह नही चाहता कि विष अपना प्रभाव दिखलाए। पर क्या उसके न चाहने से विप का प्रभाव रुक जाता है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नही। विप तो अपना असर दिखलाता ही है। ठीक इसी प्रकार जड कर्म मे जीव के सम्बन्ध से ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि कर्मकर्ता के न चाहने पर वह उसको अपना फल अवश्य दे डालता है।

एक और उदाहरण लीजिए। एक रसलोलुप व्यक्ति चटपटे भोजन खाता है, मिर्चो का आचार बडी मस्ती के साथ सेवन करता है। पर जब मुह जलता है, मिर्चो की तीक्ष्णता का अनुभव होता है, तो वह सी,सी करता है, व्याकुल होता है। मुह जल गया मुह जल गया, यह कह कर पडौसी के कान खा जाता है। शौच जाता है तो उस समय गुदा मे जलन होने से खिन्न होता है। हम पूछते हैं कि क्या रस के पुजारी और चटपटे पदार्थ खाने वाले उस व्यक्ति के न चाहने से भोजन की तीक्ष्णता अपना प्रभाव दिखलाना छोड देती है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नही। कर्मपरमाणुओ के सम्बन्ध मे भी यही बात है। वे भी कर्मकर्ता के न चाहने से अपना फल देने से नही रुकते है।

जैनो का कर्मवाद इतना विलक्षण और युक्तियुक्त है कि इसे किसी भी तरह झुठलाया नही जा सकता। जैनो का कर्मवाद परमाणुवाद पर आश्रित है। परमाणुओ मे कितना आकर्षण है? किस तरह से ये काम करते है और कैसे असभावित दृश्यो को प्रस्तुत कर देते है? इन बातो को आज के परमाणु-युग ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। परमाणुओ की विचित्र और अद्भुत कार्यक्षमता आज परोक्ष नही है, प्रत्येक व्यक्ति उसे देख सकता है, समझ सकता है। हमारा चातुर्मास

लुधियाना मे था, जैन-धर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट्, गुरुदेव पूज्य श्री आत्मा राम जी महाराज के पावन चरणो मे निवास चल रहा था। उन दिनो श्री हसराज जी वायरलैस लुधियाना आए थे श्री हसराज की वैज्ञानिकता सर्वप्रसिद्ध है। आर्यसमाज मन्दिर दालबाजार मे उन्होने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के अनेको वैज्ञानिक चमत्कार दिखलाए थे। परमाणुओ के विचित्र और आश्चर्य पूर्ण चमत्कार उन्हो ने अपनी कलाप्रदर्शनी मे प्रस्तुत किए थे। परिचय लिए कुछ एक चमत्कारो का निर्देश नीचे की पक्तियो मे किया जाता है।

१. आवाज पर चलने वाला पखा—यह पखा आदमी की भाति आज्ञा का पालन करता है। 'चलो' का शब्द कहते ही वह चल पडता है, एकदम वायु बिखेरने लग जाता है और जब 'रुको' इतना शब्द बोल दिया जाता है तो एकदम वह खडा हो जाता है।

२. अद्भुत नल—यह नल इतना विचित्र है कि आदमी के सन्मुख आते ही पानी गिराने लगता है और जव आदमी इस के आगे से पीछे चला जाता है तव यह तत्काल पानी गिराना बन्द कर देता है।

३. बिजली का वल्ब—यह वल्व (Bulb) भी पखे की तरह मनुष्य की आज्ञा मानता है। यह वल्व "जलो" यह आदेश पाते ही प्रकाश देना आरम्भ कर देता है और निषिद्ध कर देने पर प्रकाश देना छोड़ देता है।

४. जीवित मनुष्य का रेडियो—यह विज्ञान का अपूर्व

चमत्कार है । मनुष्य को एक विशेष प्रकार का मिक्चर पिला दिया जाता है, उस मिक्चर के शरीर मे प्रविष्ट होते ही मनुष्य का शरीर ही रेडियो वन जाता है, उस से रेडियो का कार्यक्रम सुना जा सकता है ।

५. टेलीवीजन—इस के द्वारा घर वैठा व्यक्ति किसी भी सिनेमा के खेल देख सकता है ।

इस के अलावा अन्य भी अनेको ऐसे दृश्य प्रस्तुत किए गए थे कि जिन से परमाणुओ की कार्यक्षमता का वडी सुन्दरता के साथ वोध हो जाता है । जव विना हाथ लगाए केवल मुख से निकले परमाणुपुज के प्रभाव से वल्व प्रकाशित हो जाता है और व्यक्ति के सामने आने पर नल पानी गिराने लग जाता है, तो आत्मप्रदेशो पर लगा परमाणुपुज यदि जीवन मे किसी भी प्रकार की उथल-पुथल ले आता है, तो इस मे आश्चर्य वाली कौनसी वात है ? रेडियो आपके सामने है । उस से हजारों मील दूर, घर वैठे आप सगीत सुनते है । भाषणो का लाभ लेते है । अनुमान लगाइए, वोलने वाला कहा बैठा है और सुनने वाला कहा ? पर यन्त्र भाषा के परमाणुओ को पकड लेते है और उन्हे भाषा के रूप मे ही लोगो तक पहुचा देते है । यह सव परमाणुवाद का विचित्र चमत्कार नही तो और क्या है ? इस चमत्कार मे ईश्वर या किसी देवी देवता की कोई परोक्ष शक्ति काम नही कर रही है । भगवान महावीर का कर्मवाद भी परमानुओ के विविध चमत्कारो का ही एक रूपान्तर है । कर्मयोग्य परमाणु जव आत्मा से मिल जाते है तो समय आने पर वे भी नानाविध अद्‌भुत दृश्यो और

चमत्कारो को जन्म देते है। इस मे असंभव कुछ नही है।

प्रश्न—ससार मे सर्वत्र कर्मयोग्य पुद्गल भरे पडे है, उन मे शुभाशुभ कोई भेद नही है । फिर पुद्गलो मे शुभाशुभ का भेद कैसे होता है ?

उत्तर—जीव का यह स्वभाव है कि वह अपने शुभाशुभ परिणामो के अनुसार परमाणुओ को शुभाशुभ रूप मे परिणत कर के ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार शुभाशुभ भाव के आश्रय वाले परमाणुओ मे भी ऐसी योग्यता रही हुई है कि वे शुभाशुभ परिणाम सहित जीव से ग्रहण किए जाकर शुभाशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझ लीजिए—

सर्प और गाय, ये दो प्राणी हैं। इन दोनो को दूध पिलाया जाता है। सर्प मे जाकर वह दूध विष का और गाय मे वह दूध का रूप धारण कर लेता है। इस का कारण केवल आहार और आहार ग्रहण करने वाले प्राणी का स्वभाव है। आहार का ऐसा स्वभाव होता है कि वह एक सा होता हुआ भी आश्रय के भेद से भिन्न-भिन्न रूप से परिणत हो जाता है। इसी प्रकार सर्प और गाय मे भी अपनी-अपनी ऐसी शक्ति रही हुई है कि वे एक से आहार को भी भिन्न-भिन्न रूप से परिणत कर देते है । ऐसे ही जीव अपने स्वभावानुसार कर्म-योग्य पुद्गल को शुभाशुभ रूप मे परिणत कर देने की क्षमता का गुण रखता है । उसी गुण के अनुसार कर्म योग्य पुद्गल शुभाशुभ रूप मे परिणत हो जाते है।

प्रश्न—जीव और कर्म का सम्बन्ध कब से चला आ रहा

है ? क्या कभी जीव कर्मो से सर्वथा रहित भी था ?

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। खान से निकले समल (मल सहित) स्वर्ण की तरह आत्मा सदा से कर्मो से लिप्त रह रही है। ऐसी कोई घडी नही थी कि जब आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त हो। यदि आत्मा को बिल्कुल कर्म-रहित मान लिया जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्ध आत्मा कर्मों से लिप्त कैसे हुई ? कौनसा ऐसा कारण था, जिस के प्रभाव से आत्मा को कर्मबद्ध होना पडा ? निष्कर्म आत्मा मे विकारो का सर्वथा अभाव होता है। निर्विकार आत्मा कर्मबद्ध हो नही सकती ? दूसरी बात, यदि सर्वथा शुद्ध और निर्विकार आत्मा भी कर्मलिप्त हो सकती है तो शुद्ध और निर्विकार स्वरूप मे रहे मुक्त जीव भी कर्मो से लिप्त हो जाया करेंगे ? ऐसी दशा मे मुक्ति का क्या महत्त्व रहेगा ? इन सव प्रश्नो का कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता है। अत यही मानना उपयुक्त और तर्कसगत है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है और कर्मबद्ध आत्मा अतीत मे कभी कर्मो से सर्वथा अलिप्त नही थी।

प्रश्न—जीव कर्मो का वन्ध क्यो करता है ?

उत्तर—कर्मो का वन्ध जीवनगत हिसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, असन्तोप, क्रोध, मान, माया आदि विकारो के कारण होता है। विकार ही आत्मा को कर्मो की वेडियो मे जकडते हैं और नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियो के दु:ख-प्रवाह मे प्रवाहित करते है। जहा-जहा विकार है वहा कर्मवन्ध होता है। विकारो के अभाव मे कर्मवन्ध नही हो सकता। एक वार अर्जुन

ने इसी सम्बन्ध मे कृष्ण से पूछा था। उस के अपने शब्द निम्नोक्त है—

अथ केन प्रयुक्तोऽय पाप चरति पूरुष: ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय !, बलादिव नियोजित· ॥

भगवद्गीता अ० ३–३६

अर्थात्—हे कृष्ण ! यह आत्मा किस शक्ति के द्वारा प्रेरित होता हुआ पापकर्म का आचरण करता है ? पाप करना न चाहता हुआ भी मनुष्य किस के द्वारा पाप के गड्ढे मे धकेल दिया जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान कृष्ण ने वहुत सुन्दर बात कही थी। उन के अपने शब्द इस प्रकार हैं—

काम एष क्रोध एष:, रजागुण-समुद्भव. ।
महाशना महापाप्मा, विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥

भगवद् गीता अ० ३-३७

अर्थात् -हे अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न होने वाला काम, क्रोध ही आत्मा को पाप की ओर प्रवृत्त करता है। इसे ही तू पाप कराने वाला अपना शत्रु समझ।

भगवान महावीर भी कर्मवन्ध का कारण काम, क्रोध, आदि विकार वतलाते हैं। ये विकार ही ससार के विषवृक्ष की जड़ो को सीचते रहते हैं। इन्ही के कारण आत्मा पापकर्म मे प्रवृत्त होती है

प्रश्न.– क्या कभी जीव कर्मो से मुक्त भी हो सकता है ?

उत्तर –जीव को कर्मवन्धन मे लाने वाले क्रोध, मान,

माया और लोभ आदि विकार है, इन्ही विकारो के कारण आत्मा अनादिकाल से कर्मो के प्रहार सहन करता चला आ रहा है। जब इन विकारो का सर्वथा आत्यन्तिक क्षय हो जाता है और तपस्या द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मो का सर्वथा नाश कर दिया जाता है तो आत्मा निष्कर्म हो जाती है, कर्मो के बन्धनो को तोड डालती है। समल स्वर्ण जैसे कुठाली मे पड कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही क्षमा, सरलता, निर्लोभता और निरभिमानता आदि साधनो द्वारा आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर के कर्मो से सर्वथा विमुक्त हो जाती है।

प्रश्नः—कर्मो से सर्वथा मुक्त हुई आत्मा क्या पुन कर्मबन्धन को प्राप्त नही करती ?

उत्तर—जो आत्मा कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देती है, उन से नितान्त मुक्त हो जाती है, वह पुन कर्मों के बन्धन को प्राप्त नही करती। कर्मबन्ध काम, क्रोध आदि विकारों के कारण हुआ करता है, जब विकार ही समाप्त हो गए तो कर्मबन्ध कैसे हो सकेगा ? बीज के सर्वथा जल जाने पर जैसे अकुर की उत्पत्ति नही होती, वैसे ही कर्म रूपी बीज के जल जाने पर ससार रूप अकुर पैदा नही होता। कहा भी है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नांकुर।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर॥

अर्थात्– बीज के जल जाने के बाद जैसे अंकुर पैदा नही हो सकता, वैसे कर्मरूप बीज जल जाने के अनन्तर भवरूप अकुर पैदा नही होता। निष्कर्म जीव को जन्म-मरण नही करना पड़ता है।

ईश्वर-वाद

ईश्वर-वाद भगवान महावीर का चतुर्थ सिद्धान्त है। ईश्वर क्या है ? उसका स्वरूप कैसा है ? जैन दर्शन और वैदिक दर्शन मे ईश्वर शब्द किस रूप मे पाया जाता है ? आदि सभी बातो के सम्बन्ध मे यहा पर प्रकाश डाला जाएगा ।

वैदिक दर्शन मे ईश्वर शब्द–

ईश्वर शब्द वैदिक दर्शन का अपना पारिभाषिक शब्द है। वैदिक दर्शन के अनुसार उस परम शक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत की निर्मात्री है, एक है, सर्व व्यापक है और नित्य है। वैदिकदर्शन का विश्वास है कि ससार के कार्य-चक्र की बागडोर ईश्वर के हाथ मे है, ससार के समस्त स्पन्दन उसी की प्रेरणा से हो रहे हैं। वह ईश्वर सर्वशक्तिमान है, जो चाहे कर सकता है, कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य बना देना *उसके बाये हाथ की कला है। सारा ससार उस की इच्छा का खेल है, उस की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। संसार का उत्थान-पतन उसी के इशारे पर हो रहा है। अच्छा तथा बुरा सब ईश्वर करता है। अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख दुःख का स्वय स्वामी नही है, ‡इस का स्वर्ग या नरक जाना

---

*कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

‡अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुख-दुःखयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥

(महाभारत)

ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है । मनुष्य कुछ नही कर सकता। उसे तो स्वय को ईश्वर के हाथो मे अर्पण कर देना चाहिए। उस की कृपा ही उसकी विगडी वना सकती है । उस की भक्ति की जानी चाहिए । पर जीव जीव रहेगा और ईश्वर ईश्वर। भक्ति, धर्म आदि अनुष्ठानो से जीव ईश्वर नही वन सकता। ईश्वर और जीव के वीच मे अन्तर-मूलक जो फौलादी दीवार खडी है, वह कभी समाप्त नही की जा सकती। इसके अलावा, ससार मे जव अधर्म वढ जाता है, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है तो पापियो का नाश करने के लिए, तथा धर्म की सस्थापना करने के लिए ईश्वर किसी ना किसी रूप में अवतार धारण करता है, भगवान से इन्सान वनता है । यह वैदिक दर्शन के ईश्वर के स्वरूप का सक्षिप्त परिचय है।

जैन दर्शन मे ईश्वर शब्द–

जैन साहित्य का परिशीलन करने से पता चलता है कि उस मे परमात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का कही प्रयोग नही मिलता है। जैनदर्शन मे परमात्मा के लिए सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वदुःख-प्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्दो का व्यवहार मिलता है। जैनदर्शन की दृष्टि से ये समस्त शब्द पर्यायवाची है । मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने श्री आचारागसूत्र मे फरमाया है—

मुक्तात्मा जन्म-मरण के मार्ग को सर्वथा पार कर जाता है । मुक्ति मे रमण करता है । उसका स्वरूप प्रतिपादन करने मे समस्त शब्द हार मान जाते है। वहा तर्क का प्रवेश नही होता । बुद्धि अवगाहन नही करती। वह मुक्तात्मा

प्रकाशमान है। वह न स्त्री-रूप है, न पुरुष-रूप है, न अन्यथारूप है। वह समस्त पदार्थों का सामान्य और विशेष रूप से ज्ञाता है। उसकी कोई उपमा नही है। वह अरूपी सत्ता है। उस अनिर्वचनीय को किसी वचन के द्वारा नही कहा जा सकता। वह न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है और न स्पर्श है... . ।

जैनदर्शन मे मुक्तात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का व्यवहार नही किया जाता है, तथा वैदिक-दर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्कर्तृत्व आदि) भी जैनदर्शन स्वीकार नही करता है। इसीलिए वैदिक दर्शन ने जैनदर्शन को अनीश्वर-वादी दर्शन घोषित किया है। परन्तु जैनदर्शन के निरीश्वरवाद का यह अर्थ नही समझना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नही है। जैनदर्शन ईश्वर की सत्ता को अवश्य स्वीकार करता है। सचाई तो यह है कि ईश्वर का जितना शुद्ध, सात्त्विक और प्रामाणिक रूप जैनदर्शन ने अध्यात्म जगत के सामने प्रस्तुत किया है उतना तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नही है। किन्तु वैदिकदर्शन ने ईश्वर के सम्बन्ध मे जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उस से जैनदर्शन मतभेद रखता है। वैदिकदर्शन ईश्वर मे जो जगत्कर्तृत्व आदि गुणो का आरोप करता है, जैनदर्शन उनसे सर्वथा इन्कार करता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि परमात्मा सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। परमात्मा का दृश्य या अदृश्य जगत मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नही है, वह जगत का निर्माता, भाग्य का विधाता या कर्मफल का प्रदाता नही है तथा अवतार

लेकर ससार मे वह आता भी नही है।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थ-विचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के यौवनकाल मे ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ मे रूढ था। उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तियो की धारक महाशक्ति को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियो से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक बन गया है। ईश्वर शब्द का उच्चारण करते ही मनुष्य को सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। इसीलिए आत्मवादी सभी दर्शनो ने ईश्वर शब्द को अपना लिया है। जैनदर्शन जो कभी अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नही था, आज उसी के अनुयायी अपने को ईश्वरवादी कहने मे ज़रा सकोच नही करते है। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा का पारिभाषिक शब्द नही रहा है, अब तो सामान्य रूप से उस से परमात्मा का, सिद्ध का, बुद्ध का बोध होता है। इसी लिए इस पुस्तक मे भगवान महावीर के पाच सिद्धान्तो मे से एक सिद्धान्त 'ईश्वर-वाद' रखा गया है। ईश्वरवाद मे ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का, सिद्ध प्रभु का ससूचक है। यहा उसे वैदिक दर्शन के पारिभाषिक ईश्वर शब्द के स्थानीय ईश्वर शब्द का रूप नही देना चाहिए। वैदिक दर्शन सम्मत उस ईश्वर शब्द के लिए जैन साहित्य मे कोई स्थान नही है।

ईश्वर के तीन रूप–

ईश्वर के सम्बन्ध मे अनेकविध विचार पाए जाते है।

मुख्यरूप से उन के तीन विभाग किए जा सकते है और वे इस प्रकार है --

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्व व्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्व-शक्तिमान है, जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, ससार मे जो कुछ होता है, सब ईश्वर के सकेत से होता है, उसके इशारे विना वृक्ष का पत्ता भी कम्पित नही हो सकता । वह ससार का सर्वेसर्वा है। ईश्वर पापियो का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगो का उद्धार करने के लिए कभी न कभी, किसी न किसी रूप मे ससार मे जन्म लेता है, वैकुण्ठ से नीचे उतरता है और अपनी लीला दिखा कर वापिस वेकुण्ठ धाम मे जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है, जिसे आज हमारे सनातन-धर्मी भाई मानते है। अब ईश्वर का दूसरा रूप समझ लीजिए--

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, इसमे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है। जीव अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म चाहे कर सकता है, यह उसकी इच्छा की वात है, ईश्वर का उस पर कोई प्रतिवन्ध नही है किन्तु जीवो को उन के कर्मो का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियो का नाश करने के लिए और धर्मियो का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नही करता, भगवान से मनुष्य या पशु आदि के रूप मे जन्म नही लेता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह दूसरा रूप है, जिसे आजकल हमारे आर्यसमाजी भाई स्वीकार करते है। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है—

ईश्वर एक नही है, ईश्वर अनादि नही है, सर्वव्यापक नही है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिमान है, जगत् का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्मफल का प्रदाता नही है, ससार के किसी धन्धे मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है, जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है, ईश्वर जीव को कर्म करने मे प्रेरणा नही देता, उसे निषिद्ध भी नही करता है। जीव जो कर्म करता है, उस का फल जीव को स्वत ही मिल जाता है, आत्मा पर लगे कर्म परमाणु ही कर्मकर्ता मनुष्य को स्वय अपना फल दे डालते है, ईश्वर का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है, कर्मफल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार नही खटखटाने पडते। जीव सर्वथा स्वतन्त्र है, किसी भी दृष्टि से वह ईश्वर के अधीन नही है। ईश्वर अवतार भी धारण नही करता है, वह किसी को मारता नही है और किसी को जिलाता भी नही है। सक्षेप मे कह सकते है—

राम किसी को मारे नही, मारे सो नही राम।
आप ही आप मर जाएगा, कर के खोटा काम॥"

जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद् असद् वृत्तियो के परिणाम है। अपनी नैया को पार करने वाला भी जीव स्वय है और उसे डुवोने वाला भी वा स्वय ही है, इस मे ईश्वर का कोई सम्वन्ध नही है। नइ तह

होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, जीव ने स्वय को ईश्वरीय स्वरूप मे प्रकट करना है, कर्मो के आवरण को हटाकर जीव ने स्वय ईश्वर बन जाना है। अत ईश्वर नमस्करणीय तथा सस्मरणीय है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है, जिसे जैन लोग स्वीकार करते है। ईश्वर के सम्बन्ध मे अन्य अनेको रूप भी मिल जाते है किन्तु मुख्य रूप से आज इन्ही तीन रूपो का अधिक प्रचार एवं प्रसार देखने मे आता है। इसलिए यहा इन तीनो का ही सक्षिप्त परिचय कराया गया है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर शब्द आज इतना लोकप्रिय बन गया है कि सभी आत्मवादी लोगो ने उसे अपना लिया है। यह वात दूसरी है कि ईश्वर शब्द के वाच्य मे या उसकी मान्यता मे अपने-अपने दृष्टिकोण को लेकर मतभेद रहता हो। इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता है कि ईश्वर शब्द को वैदिक दर्शन के आदिकाल या यौवनकाल में जो पारिभाषिक रूप दिया जाता था, वह तो कम से कम आज के युग मे समाप्त सा हो गया है। यही कारण है कि वैदिक दर्शन के अनुयायियो की भाति आज जैन दर्शन के अनुयायियो मे भी ईश्वर शब्द को आदर से देखा व सुना जाता है।

ईश्वर एक नही है--

वैदिकदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर एक है, उसकी समता करने वाली अन्य कोई आत्मा नही है। मनुष्य कितनी भी साधना करले, भक्ति और धर्म-कर्म के नाम पर अपना

कितना भी बलिदान दे डाले पर वह कभी ईश्वर नही बन सकता है। ईश्वर, ईश्वर रहता है और भक्त, भक्त। यह सत्य है कि भक्त ऊपर उठता हुआ ईश्वर के निकट तो जा सकता हैं, किन्तु ईश्वर रूप मे परिवर्तित नही हो सकता। कारण इतना ही बतलाया जाता है कि ईश्वर एक है, इसलिए कोई दूसरा आत्मा उसका समकक्ष नही बन सकता, किन्तु जैनदर्शन ऐसा नही मानता है। उसके यहा ईश्वर एक नही है, असख्य हैं। इतने ईश्वर है कि उनकी गणना भी नही की जा सकती। जैनदृष्टि से ईश्वर अनन्त है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि जीव और ईश्वर ये दोनो एक ही आत्मतत्त्व की दो अवस्थाए हैं। कर्मजन्य उपाधि से युक्त चेतन को जीव और *कर्मजन्य उपाधि से सर्वथा विमुक्त आत्मा या जीव को ईश्वर या परमात्मा कहा जाता है। अनादिकालीन कर्मबन्धन से बद्ध होने के कारण जीव अल्पज्ञ बन रहा है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि अष्टविध कर्मो के कारण उसके ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक सभी गुण ढके हुए है। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि जीवन विकारो का आत्यन्तिक क्षय करके अहिसा, सयम और तप की विराट् साधना द्वारा पूर्व-सचित कर्मो को सर्वथा विनष्ट करके मनुष्य जब अपने को बिल्कुल शुद्ध बना लेता है, अनन्त

---

*"कर्म-बद्धो भवेज्जीव, कर्ममुक्तस्त्वीश्वर"
इसी सम्बन्ध मे एक हिन्दी कवि कहता है —
आत्मा परमात्मा मे, कर्म का ही भेद है।
काट दे गर कर्म को, फिर भेद है, न खेद है॥

दर्शन और अनन्त आनन्द आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त कर लेता है तो उस समय वह सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी वन जाता है। ऐसा सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी आत्मा ही जैन दर्शन मे सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, परमात्मा आदि नामो से व्यवहृत किया जाता है। साख्य दर्शन के अनुसार वद्ध की जीव और मुक्त की ईश्वर सज्ञा जैसे प्रकृति-जन्य गुणो के सम्वध और वियोग पर निर्भर रहती है, ऐसे ही जेनदर्शन को कर्मो से वद्ध जीव की आत्मा, जीव आदि और उन से रहित जीव की मुक्त, सिद्ध, सर्वदुखप्रहीण आदि सज्ञाए इष्ट है।

परमात्मपद या ईश्वरपद को प्राप्त करने की पद्धति का जैन दर्शन ने जो निर्देश किया है, यह निर्देश किसी विशेष वर्ण जाति, प्रान्त या राष्ट्र के लिए नही किया गया है। वल्कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ण से सम्बंध रखता हो, किसी जाति का हो, किसी प्रान्त या राष्ट्र का हो ईश्वर को प्राप्त करने योग्य सामग्री को जीवन मे ले आने पर ईश्वर पद को प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पति नही है। उसे पाने के लिए साधक को साधना की पग डण्डियोपर चलना होता है। ऐसा किए विना मनुष्य को ईश्वरत्व या परमात्मत्व प्राप्त नही हो सकता। भूतकाल मे जिस किसी जीव ने ईश्वर पद पाया है तो उसने इसी पद्धति को अपनाया कर पाया है। जैनदर्शन का विश्वास है कि अतीत काल मे अनगणित आत्माओ ने ईश्वर-पद प्राप्त किया है, वर्तमान मे प्राप्त कर रही है और भविष्य मे अनगिणत आत्माए इस परपात्मा पद को प्राप्त

करेंगी, इसलिए जैन दर्शन कहता है कि ईश्वर एक नही है, अनेक है, वल्कि अनन्त है।

ईश्वर एक है अथवा ईश्वर अनेक हैं? इस प्रश्न का स्याद्वाद या अनेकान्त-वाद की भाषा मे यदि उत्तर देने लगे तो कहना होगा कि ईश्वर एक भी है और वे अनेक भी है। गुणो की दृष्टि से ईश्वर एक है। क्योकि सभी इश्वरो मे ईश्वरत्व बराबर रहता है, सभी सच्चिदानद है, सभी मे ज्ञान और आनद की अनन्तता खेल रही है। कोई किसी से हीन या अधिक नही है। जिस प्रकार गुणो की समानता की दृष्टि से स्थानागसूत्र मे भगवान महावीर ने "एगे आया" यह कहकर आत्मा को एक वतलाया है। इसी प्रकार गुणो को समानता की दृष्टि से सभी ईश्वर व्यक्तियो पर 'ईश्वर' यह एक शब्द लागू होता है। कोई ईश्वर छोटा है, कोई वड़ा है, ऐसा व्यवहार वहा नही चलता है। इसलिए जैन दर्शन कहता है कि ईश्वर एक है। किन्तु व्यक्तियो की अपेक्षा से वे अनेक हैं, आ अनन्त है। जो जीव अहिंसा, सयम, तप की अध्यात्म त्रिवेणी मे गोते लगा कर कर्ममल से सर्वथा विशुद्ध हो गए है या हो रहे है, जैन दृष्टि से वे सव ईश्वर है, इसलिए ईश्वर एक न होकर अनेक हैं, उनकी सख्या का कभी अन्त नही आ सकता। वैदिक दर्शन व्यक्ति की दृष्टि से ईश्वर को एक मानता है। उस के यहा किसी भी आत्मा मे ईश्वरत्व प्राप्त करने की योग्यता ही नही है, जव कि जन दर्शन प्रत्येक भव्य आत्मा मे ईश्वरत्व प्राप्त करने की योग्यता को स्वीकार करता है और यह मानता है कि अतीत काल मे अनन्त आत्माओ ने ईश्वर पद पाया है, और अनागत मे अनन्त आत्माए इस पद को प्राप्त करेंगी। इस

लिए जैन दर्शन एक ईश्वर न मानकर अनन्त ईश्वर मानता है।

ईश्वर अनादि नही है —

वैदिक दर्शन ईश्वर एक मानता है और उसे अनादि बतलाता है। इस लोक मे जो दर्जा एक स्वतत्र सम्राट् का होता है, वही परलोक मे ईश्वर या परमेश्वर का स्वीकार करता है। जैसे किसी राज-वश मे जन्म लेने वाले व्यक्तियो को सम्राट् पद अनायास प्राप्त हो जाता है, उसके लिए उन्हे कुछ भी प्रयत्न नही करना पडता है, वैसे ही वह ईश्वर भी अनादिकाल से ससार के कारणभूत क्लेश, कर्म, कर्म-फल और वासनाओ से अछूता है, कर्म आदि का विनाश कर देने से उसे ईश्वर पद प्राप्त नही हुआ है किन्तु वह उनसे सदा से सर्वथा रहित है। उसका ऐश्वर्य भी अविनाशी है। काल के लम्बे हाथ वहा तक नही जा सकते, इसी लिए वह सब से बडा है, सब का गुरु है, सब का ज्ञाता है। जो ससारी जीव अहिंसा, सयम और तप की पवित्र साधना द्वारा अपने समस्त कर्मों को नष्ट करके मुक्त होते है वे भी कभी उसके बराबर नही हो सकते। वैदिक दर्शन ऐसे अनादि-अनन्त पुरुष-विशेष को ईश्वर के नाम से व्यवहृत करता है किन्तु जैन दर्शन मे इस प्रकार के ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है। जैन दर्शन का विश्वास है—

नास्पृष्ट. कर्मभि शश्वद्, विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तित ॥

अर्थात् -कोई सर्वद्रष्टा सदा से कर्मों से अछूता नही हो सकता, क्योकि बिना उपाय के उस का सिद्ध होना किसी

भी तरह नही बनता है। भाव यह है कि वैदिक दर्शन का यह मन्तव्य कि व्यक्ति की अपेक्षा से ईश्वर अनादि है, जैनदर्शन को मान्य नही है, और यह किसी भी तरह सगत भी नही ठहरता है। क्योकि परमात्मा शब्द मे जो परम शब्द है, यही उसकी अनादिता का स्पष्ट रूप से विरोध कर रहा है। देखिए, परमात्मा मे परम और आत्मा यह दो शब्द है। आत्मा शब्द सामान्यतया चैतन्यविशिष्ट पदार्थ का बोधक है और परम शब्द उस की विशिष्टता का, महत्ता का ससूचक है। सामान्य आत्माओ से अपेक्षाकृत विलक्षणता को प्रकट करने वाला परम शब्द आत्मा के साथ जुड़ जाने से परमात्मा का स्थान सर्वोपरि बन जाता है, किन्तु सामान्य आत्मा और उस परमात्मा मे जो अपेक्षा-कृत विलक्षणता है, वह केवल निष्कर्मता को ले कर है। सामान्य आत्मा और परमात्मा मे केवल कर्म का ही अन्तर रहता है। इसीलिए कहा है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोय सिद्ध होय।
कर्म मैल का अन्तरा, बुझे विरला कोय ॥

तत्त्वार्थ सूत्र मे आचार्य-प्रवर श्री उमास्वाति ने लिखा है कि—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष.—, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मो का आत्यन्तिक क्षय ही मोक्ष है, परमात्मस्वरूप है। इस परमात्मस्वरूप को निष्कर्मता के द्वारा कोई भी जीव प्राप्त कर सकता है। निष्कर्मता प्राप्त किए बिना कोई भी आत्मा परमात्मा नही बन सकता। निष्कर्मता की प्राप्ति का प्रयास सकर्मा व्यक्ति ही किया करता है। इसलिए परमात्मा बनने वाले को सर्वप्रथम अहिसा, सयम और

तप के द्वारा कर्मों को क्षय करके निष्कर्मता प्राप्त करनी ही पडती है । निष्कर्मता के अनन्तर प्राप्त होने वाला परमात्म-स्वरूप कभी अनादि नही कहा जा सकता है । क्योकि पहले वह अप्राप्त था, अनुत्पन्न था, अब उसको प्राप्ति या उत्पत्ति हुई है । अत. वह सादि है । यह सत्य है कि प्रवाह की दृष्टि से ईश्वरस्वरूप अनादि है, क्योकि अनादि काल से जीव इसे प्राप्त करते चले आ रहे हैं, किन्तु एक व्यक्ति की अपेक्षा से ईश्वरस्वरूप को अनादि कहना बिल्कुल असगत है ।

जैनदर्शन मोक्ष को सादि-अनन्त मानता है । उसके विश्वासानुसार चार प्रकार के पदार्थ होते है—१. अनादि अनन्त, २. अनादि सान्त ३. सादि अनन्त और ४ सादि सान्त । जिसका न आदि हो और न अन्त हो उसे अनादि-अनन्त कहते हैं । जैसे-जीव । जीव का जीवत्व अनादि-अनन्त है, इसका न आदि है, और न अन्त है । जिसका आदि न हो किन्तु अन्त हो, उसे अनादि-सान्त कहा जाता है । जैसे आत्मा और कर्म इन दोनो का सयोग अनादि-सान्त है । क्योकि कर्मप्रवाह की दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कभी आरम्भ नही हुआ है, पर अहिंसा, सयम और तप से इस सम्बन्ध का अन्त अवश्य लाया जा सकता है । जिस का आदि हो, पर अन्त न हो, वह सादि-अनन्त कहलाता है । जैसे मोक्ष । कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से मोक्ष का आरम्भ होता है, किन्तु सर्वथा निष्कर्म आत्मा पुन. कर्मबन्धन मे नही आने पाती, मोक्ष का अन्त नही होता । इसलिए मोक्ष सादि-अनन्त है । और जिस का आदि भी हो और अन्त भी हो, उसे सादिसान्त कहा जाता है । जैसे सयोग । घडे और कपडे मे होने वाले सयोगकी उत्पत्ति

है, और उसका विनाश भी होता है। इस लिए इस संयोग को सादि-सान्त कहते है। इन मे से मोक्ष को सादि-अनन्त कहा गया है। यह इसी लिए कहा गया है कि एक व्यक्ति की अपेक्षा से मोक्ष अर्थात् ईश्वरत्व या परमात्मत्व अनादि नही है, सादिसान्त है।

वैदिकदर्शन ने ईश्वर को व्यक्ति की दृष्टि से जो अनादि बतलाया है, वह किसी भी युक्ति से प्रमाणित नहीं होने पाता है। और न इस मान्यता मे कोई तथ्य ही प्रतीत होता है। तथापि उसने ईश्वर को जो अनादि माना है, इसके पीछे एक ही बात मालूम पडती है। वह बात यह है कि उस ने ईश्वर को ससार का निर्माता, भाग्य विधाता आदि प्रमाणित करना है। जगत का निर्माण तथा कर्मफल का प्रदान ईश्वर तभी कर सकता है, यदि उसे अनादि माना जाए। इसीलिए वैदिकदर्शन ने उसे अनादि स्वीकार किया है। किन्तु ईश्वर जगत का निर्माता भी सिद्ध नही होने पाता। क्योंकि यदि ईश्वर को जगत का निर्माता और भाग्य का विधाता आदि मान लिया जाए तो उसका ईश्वरत्व ही लडखडा जाता हैं। इस सम्बन्ध मे इसी प्रकरण मे आगे बतलाया जा रहा है। पाठक उस स्थल को देखने का कष्ट करे।

ईश्वर सर्वव्यापक नही है—

वैदिकदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक का अर्थ है, सब जगह रहने वाला। विश्व का कोई भी ऐसा प्रदेश नही है, जहा ईश्वर की अवस्थिति न हो। वह सर्वत्र विराजमान है, इस लिए वह सर्वव्यापक है।

किन्तु जैनदर्शन को ईश्वर की सर्वव्यापकता मान्य नही है।

जैनदर्शन जीव को शरीर-परिमाण मानता है। जैसे दीपक छोटे या वडे जिस स्थान मे रखा जाता है उसका प्रकाश उस के अनुसार या तो सकुचित हो जाता है या फैल जाता है, वैसे ही प्राप्त हुए छोटे या वडे शरीर के आकार के परिमाणानुसार आत्मप्रदेशो के परिमाण मे भी सकोच और विकास होता रहता है किन्तु उनके सकुचित होने पर न तो आत्मा मे कोई हानि होती है और उन का विस्तार होने पर आत्मा में न कोई विशेषता आती है। प्रत्येक दशा मे आत्मा *असख्यात प्रदेशी का असख्यात प्रदेशी ही रहता है।

कहा जाता है कि यदि आत्मा शरीर-परिमाण है तो बालक के शरीर-परिमाण से युवा शरीर रूप परिमाण मे वह कैसे बदल जाता है ? यदि बालक के शरीर-परिमाण को छोडकर यह आत्मा युवक व्यक्ति के शरीर परिमाण को धारण करता

---

*जितने स्थान को एक पुद्गल परमाणु रोकता है, उतने देश को प्रदेश कहते है। लोकाकाश मे यदि क्रमवार एक-एक करके परमाणुओ को बराबर सटाकर रखा जाए तो असख्य परमाणु समा सकते है। अत लोकाकाश, तथा उसमे व्याप्त धर्म और अधर्म द्रव्य असख्यातप्रदेशी कहे जाते है। इसी तरह शरीर-परिमाण जीव द्रव्य भी यदि शरीर से वाहर हो कर फैले तो लोकाकाश मे व्याप्त हो सकता है। अत. जैनदर्शन जीव द्रव्य को भी असख्यातप्रदेशी मानता है। आकाश, धर्म, अधर्म आदि द्रव्य जड है, जब कि जीव चेतनता को लिए हुए है। यही इनमे अन्तर है।

है तो शरीर की तरह आत्मा को भी अनित्य मानना पडेगा। यदि बालक के शरीर-परिमाण को छोडे बिना आत्मा युवा शरीर रूप होता है तो यह सभव नही है। क्योकि एक परिमाण को छोडे बिना दूसरा परिमाण हो नही सकता। इसके अलावा यदि जीव को शरीर-परिमाण मान लिया जाय तो शरीर के एकाध भाग के कट जाने पर जीव के भी अमुक भाग की हानि माननी पडेगी। अत जीव को शरीरपरिमाण नही मानना चाहिए। इस आशका का समाधान निम्नोक्त है—

"जीव बालक के शरीर-परिमाण को छोडकर ही युवा शरीर के परिमाण को धारण करता है" यह सत्य है। इस मे असभव जैसी कोई बात नही है। व्यवहार इस सत्य का पोषक है। जैसे सर्प अपने फण वगैरह को फैला कर बडा कर लेता है वैसे ही आत्मा भी सकोच-विकास गुण वाला होने के कारण भिन्न-भिन्न आकार वाला हो जाता है। जीवतत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त मिलने पर प्रदीप या सर्प के फण की तरह सकोच और विकास को प्राप्त कर लेता है। रही उसकी अनित्यता की बात, उस के सम्बन्ध मे जैनदर्शन कहता है कि शारीरिक परिमाण की अपेक्षा से जीव अनित्य है। बाल, युवा, वृद्ध इन अवस्थाओ की दृष्टि से जैनदर्शन जीव को अनित्य स्वीकार करता है। किन्तु द्रव्य दृष्टि से वह जीव को नित्य ही कहता है। इसके अलावा शरीर खण्डित हो जाने पर जीव खण्डित नही होता है। क्योकि शरीर के खण्डित हुए भाग मे आत्मा के प्रदेश विस्तार रूप हो जाते है। यदि खण्डित हुए भाग मे आत्मा के प्रदेश न माने जाए तो शरीर से अलग हुए भाग मे जो कम्पन देखा जाता है, उसका कोई दूसरा कारण

दृष्टिगोचर नही होता । अत शरीर के खण्डित भाग में आत्मप्रदेश मानने पडेगे और यह स्वीकार करना पडेगा कि खण्डित भाग मे जो कम्पन होता है वह आत्मप्रदेशो के कारण ही होता है क्योकि शरीर के उस खण्डित भाग मे कोई दूसरा जीव तो है ही नही और बिना जीव के उस मे परिस्पन्दन का होना सर्वथा असभव है । व्यवहार इस तथ्य का गवाह है ।' देखा जाता है कि कुछ देर के बाद जब आत्म-प्रदेश सकुचित हो जाते है तो उस कटे भागें मे कम्पन रुक जाता है । सारांश यह है कि शरीर के दो भाग हो जाने पर भी आत्मा के दो भाग नही होते है ।

जीव को यदि सर्वव्यापक मानलिया जाए तो अन्य अनेकों प्रश्न उपस्थित हो जाते है जिन का कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता है । देखिए, सर्वव्यापक आत्मा में क्रिया नही हो सकती और क्रिया के बिना वह पुण्य और पाप का कर्ता नही बन सकता है । पुण्य पाप का कर्ता वने बिना उस के वध और मोक्ष की व्यवस्था नही बन सकती । तथा आत्मा को सर्व-व्यापक मान लेने पर सुख दु ख की व्यवस्था भी नही हो सकती । आत्मा को सर्व-व्यापकता मे एक व्यक्ति का सुख दु ख दूसरे व्यक्ति को भी होना चाहिए, क्योकि उसकी आत्मा दूसरे व्यक्ति मे भी अवस्थित है । जव आत्मा सर्वत्र है तव एक दूसरे के सुख दु ख की अनुभूति एक दूसरे को अवश्य होगी । इस मे कोई वाधक नही वन सकता । पर ऐसा होता नही है । इसके अलावा मनुष्य मर गया, उसका स्वर्गवास हो गया, इन वाक्यो का प्रयोग भी नही हो सकता है । क्योकि जव जीव सर्वव्यापक होने से सर्वत्र अवस्थित है,

मृतक शरीर मे भी मौजूद है। फिर उसका मरण या स्वर्ग-वास हो गया, वह कैसे कहा जा सकता है ? पर व्यवहार तो ऐसा ही होता है । इसलिए यही मानना उपयुक्त एव शास्त्रीय है कि जीव सर्वव्यापक नही है बल्कि शरीर-परिमाण वाला है।

प्रकृति का सिद्धान्त है कि जिस पदार्थ का गुण जहा देखा जाता है, वह वही रहता है, अन्यत्र नही। घट को ही ले लीजिए । घट के रूप, गन्ध आदि गुण जहा पाए जाते है, वही उसकी अवस्थिति देखी जाती है, सर्वत्र नही। ऐसे ही जीव का चैतन्य गुण शरीर मे ही मिलता है, अन्यत्र नही। इस लिए जीव को शरीर-व्यापक ही मानना पडेगा । यदि कुछ क्षणो के लिए जीव को सर्व-व्यापक मान लिया जाए तो उस का भवान्तर मे सक्रमण करना भी सर्वथा असभव हो जायगा। मनुष्य गतिसे नरकगति की प्राप्ति, नरकगति से तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्च-गति से देव-गति को उपलब्धि सर्वथा असभव प्रमाणित होगी, क्योकि सर्व-व्यापक पदार्थ का इधर-उधर यातायात हो ही नही सकता। इधर-उधर होने की व्यवस्था तब हो सकती है, यदि इधर उधर का प्रदेश उस पदार्थ से खाली हो। पदार्थ की सर्वव्यापकता मे कोई प्रदेश खाली रहने नही पाता है। अत. जीव को सर्वव्यापक न मान कर शरीर-परिमाण वाला ही मानना चाहिए। ऐसा मानने पर ही उक्त सभी बाते समाहित हो सकती हैं ।

कहा जा चुका है कि कर्मबद्ध जीव ही ससार मे परिभ्रमण किया करता है। जब जीव कर्मो के फन्दे से निकल जाता है, अहिंसा, सयम, तप की त्रिवेणी मे गोते लगाकर कर्मो का आत्यन्तिक नाश कर देता है, तब यह ईश्वर पद को प्राप्त

कर लेता है। दूसरे शब्दो मे, आत्मा की निष्कर्म-दशा का नाम ही परमात्मा है। जब जीव या आत्मा शरीरपरिमाण वाला प्रमाणित है, सर्वव्यापक नही है, यह सिद्ध हो चुका है, तो ईश्वर या परमात्मा सर्वव्यापक कैसे सिद्ध हो सकता है ? अत. जैनदृष्टि से ईश्वर सर्वव्यापक नही है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला के ऊपर—अग्रभाग मे ४५०००,०० योजन लम्बे चौडे और ३३३ धनुष तथा ३२ आंगुल जितने ऊंचे क्षेत्र मे अनन्त सिद्ध आत्माएं विराजमान हैं। सिद्ध भगवान सदा इसी स्थान मे अनन्त आत्मिक आनन्द में मग्न रहते हैं।

जैनदर्शन "ईश्वर सर्वव्यापक नही है" इस मान्यता को लेकर चलता है, यह सत्य है किन्तु जब अनेकान्तवाद की छाया तले बैठ कर इस मान्यता पर विचार करते हैं, तो ईश्वर की सर्वव्यापकता भी प्रमाणित हो जाती है, पर यह सर्वव्यापकता व्यक्ति की दृष्टि से नही है। व्यक्ति की अपेक्षा से तो ईश्वर सर्वव्यापक नही है, किन्तु यदि ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर को सर्वव्यापक माना जाए तो जैनदर्शन को कोई आपत्ति नही है। क्योकि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, उस के ज्ञान मे सारा विश्व हस्तामलकवत् आभासित हो रहा है। विश्व का एक कण भी ईश्वरीय ज्ञान से ओझल नही है। अत. ज्ञान की दृष्टि से यदि ईश्वर को सर्वव्यापक कहा जाए तो जैनदर्शन को कोई इन्कार नही है।

मनुष्य ही ईश्वर है—

वैदिक दर्शन के विश्वास के अनुसार ईश्वर एक है, अनादि है, अनन्त है और सर्वव्यापक है, किन्तु जैनदर्शन ईश्वर

के इस स्वरूप मे कोई विश्वास नही रखता है। वह उसे व्यक्ति की दृष्टि से सादि-अनन्त, सिद्धशिला के समीप विराजमान तथा समस्त सिद्ध आत्माओ की अपेक्षा से अनादि अनन्त कहता है। इसी मान्यता को आधार बना कर जैनदर्शन मनुष्य जगत से कहता है कि मनुष्यो ! तुम स्वय ईश्वर हो। ‡प्रत्येक आत्मा मे ईश्वरत्व अगड़ाई ले रहा है। तुम स्वय अपने भाग्य के विधाता हो, अपनी सृष्टि का निर्माण स्वय तुम्हारे हाथो मे रहा हुआ है। तुम जो चाहो बन सकते हो, तुम स्वय सिद्ध हो, ईश्वर हो। ईश्वरत्व तुम्हारे कण-कण मे खेल रहा है। किन्तु आज तक तुमने उसे पहचाना नही है। सिंह का बच्चा जैसे भेडो मे मिलकर अपने को भेड मान बैठता है, ठीक तुम्हारी भी वही दशा हो रही है। अल्पज्ञो मे मिलकर तथा मोह-वासना की दलदल मे फस कर तुम अपने को दीन, हीन मान बैठे हो, पर वस्तुस्थिति ऐसी नही है। तुम्हारी आत्मा मे अनन्त शक्तिया नाच रही है, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख का महादेव तुम्हारे अन्दर ही विराजमान है। भक्ति या पूजा करनी हो तो अपने ही आत्मदेव की करो। इस भक्ति और पूजा का ढग भी बडा निराला है। राग और द्वेष, मोह और माया, तृष्णा और भय से आत्मा का पिण्ड छुडाना ही वास्तविक पूजा है। जीवनगत काम, क्रोध आदि विकारो को दूर करने तथा वीतरागता को प्राप्त करने से बढ कर अन्य कोई भक्ति नही है। वस्तुत आत्मविकास की सर्वोच्च परिणति ही परमात्मतत्त्व है, और इस तत्त्व के तुम स्वामी

---

‡अप्पा सो परमप्पा।

हो। दाता हो कर भिखारी मत वनो। ठाकुर वन कर पुजारी क्यो वनने चले हो ? हीरो की खान पर वैठ कर अपने मे दरिद्रता की कल्पना क्यो करते हो ? सभलो, चेतो, अपनी ओर देखो। तव तुम्हे धीरे-धीरे अपने मे ही ईश्वरत्व के दर्शन हो जाएगे।

ईश्वर जगन्निर्माता नही है—

वैदिक दर्शन का विश्वास है कि इस जगत का निर्माण ईश्वर ने किया है। जिस प्रकार रेलवे, एरोप्लेन, मोटर, तार, टेलीफोन, वायरलैस, अणुवम आदि वस्तुएं बुद्धिमान मनुष्य की रचना है, उसी प्रकार यह जगत भी ईश्वर ने वनाया है। कहा भी है—

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या,
> वृक्षान् सरीसृपपशून खगदंशमत्स्यान्।
> तैस्तैरतुष्टहृदय: पुरुपं विधाय,
> ब्रह्मावबोधधिषण मुदमाप देव: ॥

अर्थात्-ईश्वर ने अपनी शक्ति से वृक्ष, सरीसृप, पशुसमूह, पक्षी-दंश और मत्स्य आदि नानाविध शरीरो का निर्माण किया है। इतना करने पर भी ईश्वर के हृदय मे सन्तोष नही हुआ, तव उस ने मनुष्यदेह का निर्माण किया। मनुष्य भी ऐसा, जिस मे व्रह्म के स्वरूप का वोध प्राप्त करने की बुद्धि है, क्षमता है। मनुष्य की रचना से वह हर्ष-विभोर हो उठा। वैदिक दर्शन की इस जगत्कर्तृत्व मान्यता से जैन दर्शन सहमत नही है। जैनदर्शन इस जगत को अनादि मानता है। उस के अभिमतानुसार इस ससार को कभी वनाया नही गया है।

यह ससार पहले था, अब है और भविष्य मे रहेगा । इसको बनाने वाला कोई नही है । ससार को ईश्वर की रचना मानना सर्वथा असगत तथा सर्वथा युक्तिविकल है। किसी भी युक्ति से ईश्वर को ससार का निर्माता प्रमाणित नही किया जा सकता है। ससार को यदि ईश्वर की रचना मान लिया जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर ने ससार को क्यो बनाया ? ससार-निर्माण के लिए ईश्वर मे लालसा क्यो उत्पन्न हुई ? ससार के बनाने मे ईश्वर का कोई उद्देश्य तो होना ही चाहिए ? यदि कोई उद्देश्य है तो वह कौनसा है ?

यदि कहा जाए कि करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर ने संसार को बनाया है। ससार-रचना के पीछे ईश्वर की दयालुता ही प्रधानतया कारण है, तो प्रश्न होता है कि करुणा का पात्र तो कोई दु खी व्यक्ति ही हुआ करता है। जब कोई व्यक्ति ही नही है तो करुणा किस पर की जायगी ? जगत के निर्माण से पहले जीवो के न शरीर थे, न इन्द्रिया थी, और न इन्द्रियों के विषय ही थे। ऐसी दशा मे किस दु ख का प्रतिकार करने के लिए ईश्वर को जगत के निर्माण का कष्ट उठाना पड़ा ? ससार मे जितनी प्रवृत्तिया देखी जाती है, उन के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य हुआ करता है। निरुद्देश्य कोई प्रवृत्ति नही होने पाती। इसीलिए कहा है—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'

अर्थात्—मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी यदि कोई प्रवृत्ति करता है तो उस के पीछे उस का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहा करता है। निरुद्देश्य वह कोई प्रवृत्ति नही कर पाता है।

उक्त सिद्धान्त के प्रकाश मे यह मानना होगा कि ईश्वर ने जगत का जो निर्माण किया है तो उस मे उस का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि विना उद्देश्य के ही ईश्वर ने जगत को वना डाला, तो यह वात भी बुद्धि-सगत प्रतीत नही होती। क्योकि जब मूर्ख-शिरोमणि व्यक्ति भी विना उद्देश्य के कोई प्रवृत्ति नहीं करने पाता तो सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी ईश्वर इतनी वड़ी भूल कैसे कर सकता है ?

जगत ईश्वर का मनोविनोद नही—

ईश्वर को जगत का निर्माता मानने वाले लोग कहते हैं कि †ईश्वर अकेला था, इस से वह उदासीन या अतृप्त था। जिस प्रकार मकान मे कोई मनुष्य अकेला रहता है, तव उसका दिल नही लगता, वह दूसरे साथी की इच्छा करता है, उसी प्रकार ईश्वर के हृदय मे ऐसी इच्छा हुई कि कोई दूसरा होना चाहिए दूसरा न होने के कारण ईश्वर को शान्ति नही मिल रही थी। इसलिए उस ईश्वर ने सकल्प किया—

एकोऽहम्, बहु स्याम्। अर्थात्—मैं अकेला हू, वहुत हो जाए। ईश्वर के इतना कहने मात्र से इतना वड़ा विशाल जगत वन गया। कितनी विचित्र मान्यता है यह ? एक ओर कहना कि ईश्वर निराकार है, उस के कोई इच्छा नही है, दूसरी ओर यह कहना कि दिल लगाने के लिए ईश्वर को यह जगत वनाना पडा। खूव रही, ईश्वर भी एक अच्छा खासा

---

† स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी नैव रमते स द्वितीयमैच्छत्।

—वृहदारण्यक उप०

मनचला बच्चा बन गया। जैसे बच्चे का खिलौने के बिना दिल नही लगता, ऐसे ही ईश्वर को भी मानो विनोद के लिए ससार का खिलौना चाहिए था। कितना अन्धविश्वास है यह। विश्वास रखिए, यह मान्यता निरी मिथ्या है, इस मे कोई सत्यता नही है। निराकार भगवान के सम्बन्ध मे उस के दिल लगाने की चिन्ता करना, यह भगवान का अपमान करना है। इस से भगवान की प्रतिष्ठा नही हो सकती। मैं तो कहूगा कि इस से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान की सर्वज्ञता और सर्व-दर्शिता का उपहास होता है, ईश्वर के ईश्वरत्व की यह सरासर अवहेलना है।

"ईश्वर ने दिल लगाने के लिए इस ससार को बनाया है" इस बात को यदि सत्य मान लिया जाए तो जिस ससार से ईश्वर अपना दिल बहलाता है, वह ससार् कैसा है ? यह भी समझ लीजिए। आज का ससार दु खो का सजीव चित्र दृष्टिगोचर हो रहा है। कही मानव हस रहा है, कही वह रो रहा है, कही पशुओ को छुरियो का भोजन बनाया जा रहा है, कही मनुष्य जीवन को आग लगा कर उस की भस्म बनाई जा रही है, कही गाय, भैस, बकरा, बकरी, मुर्गा, भेड आदि प्राणियो के जीवन का अन्त किया जा रहा है, इन के मासो को आमोद-प्रमोद के साथ खाया जा रहा है, कही वधगृह मे चीत्कार हो रहे है, कहा बन्दो-गृहो मे कोडो की ध्वनिए गूज रही हैं, कही नारी का वैधव्य बहुत बुरी तरह अपमानित एव तिरस्कृत किया जा रहा है, कही पतिव्रताओ के पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो रहे हैं, उन्हे नग्न करके नचाया जा रहा है, उन पर बलात्कार हो रहे है, उन के बच्चो को नेजो पर उछाला जा रहा है, कही

भाई भाई का रक्त पी रहा है, कही भाई वहिन पर आसक्त हो रहा है, कही पुत्र मा को विप दे रहा है, उसका गला दवोच रहा है, कही विश्व को आग लगाने के लिए ऐटमवम, हाईड्रोजन वम और अन्य जहरीली गैसे वनाई जा रही है, कही अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को सफल वनाने के लिए दल-बन्दिया की जा रही है, कही धर्म के नाम पर जनमानस के साथ विश्वासघात किया जा रहा है, कही स्वर्ग और अपवर्ग का प्रलोभन देकर मानवता की हत्या चल रही है। इस तरह ससार के रगमच पर अन्य अनेकविध अनर्थकारी तथा पशुतापूर्ण अभिनय दृष्टिगोचर हो रहे है। क्या ससार के इन सभी भीषण और हृदयविदारक दृश्यो को देख-देख कर ईश्वर का मन लगता है ? उस की उदासीनता नष्ट हो जाती है ? क्या इसीलिए ईश्वर ने इस ससार का निर्माण किया है ?

देखा, आपने ईश्वर का मनोविनोद ! मनोविनोद की सामग्री भी कितनी विचित्र एकत्रित की गई है ? एक सामान्य भावुक व्यक्ति भी जिन दृश्यो से घृणा करता है, और सदा के लिए जिन को अपने जीवन से निकाल देता है, ऐसे भयावह और अनर्थकारी दृश्यो मे जरा भी वह रस नही लेता, किन्तु परमपिता परमात्मा उन्ही दृश्यो को देख-देख कर जीता है, इन दृश्यो से उस का मनोविनोद होता है, वह आनन्दसागर मे डूब जाता है और यदि उसे ये दृश्य देखने को न मिले तो वह उदासीन हो जाता है। परमात्मा भी खूब रहा ? यह तो वही वात हुई कि एक आदमी मैदान मे गुड रख देता है, गुड के पास अनेको डण्डे भी रख छोडता है, इस के अनन्तर वहा बन्दरो को भेज देता है। गुड देखते ही वन्दर उस पर टूट पड़ते

है। छीना-झपटी आरभ हो जाती है । अन्त मे बन्दर डण्डे लेकर आपस मे लडने-मारने को जुट जाते है। इधर यह वानरयुद्ध हो रहा है, उधर वह गुड और डण्डे रखने वाला व्यक्ति इस युद्ध को देख कर चटकारिया मारता है, बल्लियो उछलता है, जी भर कर हसता है। सचमुच ऐसी ही स्थिति ईश्वर की हो रही है। वह भी ससार के रगमच पर हो रहे मानवीय नाटक को देख कर हर्ष मनाता है, उसका उदासीन मानस हर्षविभोर हो उठता है। क्या आप ऐसे विनोदप्रिय ईश्वर को ईश्वर मानेगे ? आप भले ही उसे ईश्वर मानिए, किन्तु जैनदर्शन उसे ईश्वर स्वीकार नही करता। दूसरो को लडाने मे, भिडाने मे जिसे आनन्द मिलता हो, दु खाग्नि मे जल रहे मानव-जगत को देखकर जिस का जीवन-वृक्ष लहलहा उठता हो, आततायी और क्रूर जीवन के उत्कर्ष मे जो तालिया पीटता हो, जैनदर्शन उसे भगवान तो क्या एक सच्चा इन्सान भी मानने को तैयार नही है।

सभी अध्यात्मदर्शन परमात्मा को निर्विकारी मानते है। सभी कहते है कि उस मे इच्छा आदि का कोई विकार नही है, वह सर्वथा निरिच्छ है। फिर उस मे जगन्निर्माण की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? यदि कुछ क्षणो के लिए ईश्वर मे इच्छा का होना मान लिया जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? अनित्य तो हो नही सकती क्योकि ईश्वर नित्य है। नित्य ईश्वर की इच्छा भी नित्य ही हो सकती है। जब ईश्वर की इच्छा नित्य है, विनाशिनी नही है तो वह सदैव एक जैसी रहनी चाहिए। जब ईश्वर की इच्छा एक जैसी रहेगी तो ईश्वर मे परस्पर

विरोधी इच्छा नही रह सकती। पर ऐसा होता नही है। नित्य ईश्वर मे परस्पर विरोधिनी इच्छा भी पाई जाती है। ईश्वर को कर्ता मानने वालो का विश्वास है कि ईश्वर कभी जगत का निर्माण करता है और वही कभी उस का सहार करता है। जगत का निर्माण और सहार ये दोनो परस्पर विरोधी कार्य है। नित्य ईश्वर मे ये दोनो परस्पर विरोधी कार्य कैसे रह सकते है ? इसलिए यही मानना उपयुक्त है कि ईश्वर न जगत का निर्माण करता है और न उस का सहार ही करता है। ससार के निर्माण और सहार से ईश्वर का कोई सम्वन्ध नही है।

वैदिकदर्शनसम्मत जगन्निर्माण—

वैदिकदर्शन मे जगत के निर्माण की जो वाते लिखी है, वे इतनी विचित्र है कि उन्हे पढ कर वरवस हसी छूट पडती है। मनुस्मृति मे जो लिखा है उस का साराश इस प्रकार है —

अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से उस परमात्मा ने ध्यान करके पहले जल को उत्पन्न किया, फिर उस मे वीज का (चिच्छक्ति का) स्थापन किया। वह वीज सूर्य की कान्ति के समान सुवर्णमय अण्डा वन गया। उस अण्डे मे सकल-जगत उत्पादक स्वय व्रह्मा उत्पन्न हुए। उस अण्डे मे एक वर्ष तक निवास करके उस भगवान ने ध्यान द्वारा उस अण्डे के दो खण्ड किए। उन दोनो खण्डो मे से ऊपर के खण्ड से स्वर्ग और नीचे के खण्ड से भूलोक, उन के मध्य मे आकाश और पूर्वादि आठ दिशाए, तथा जल का शाश्वत स्थान समुद्र उन भगवान ने वनाया* ।

---

* देखो, मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ८ से लेकर १३ तक।

मनुस्मृति का उक्त कथन कहा तक सत्य है ? जरा गभीरता से विचार कीजिए। सर्वप्रथम तो इस का ऋग्वेद यजुर्वेद की श्रुति से तथा गोपथ-ब्राह्मण आदि से विरोध पडता है, क्योकि ऋग्वेद मे अण्डे का वर्णन नही है, यजुर्वेद और गोपथ-ब्राह्मण मे ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से वतलाई है। एक स्थान पर ब्रह्मा को अज (जन्म न लेने वाला) कहा है। इस प्रकार परस्पर विरोध सुस्पष्ट है। ब्रह्मा जी एक वर्ष तक अण्डे मे रहे, यह भी सर्वथा असगत है। क्योकि मनुष्य के ३६० वर्ष देवता के एक वर्ष के समान होते है। देवता के १२००० वर्षो का एक देव-युग होता है। देवता के २००० युगो का ब्रह्मा का एक अहोरात्र वनता है। ३६० दिनो का फिर एक वर्ष होता है। इतने लम्बे काल तक ब्रह्मा जी का अण्डे मे रहने का क्या कारण था ? वाहिर निकलने को उन्हे मार्ग नही मिला, या कोई अन्य कारण था ? इस प्रकार अनेको प्रश्न उपस्थित होते है, जिन का कोई सन्तोषजनक समाधान नही है।

आर्यसमाज के मान्य धर्मग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश मे लिखा है कि जगत की उत्पत्ति के समय ईश्वर ने २२-२२ वर्षों के युवक जोडे (स्त्री और पुरुष) तिब्बत के पहाड पर उतार दिए थे, उन जोडो से फिर मानव-जगत का विस्तार हुआ। आप ही सोचिए, इस मे कहा तक सत्यता है। माता-पिता के सयोग के बिना मनुष्य कैसे उत्पन्न हो गया ? समझ मे [illegible] [illegible]

जोडे उतारे ? तो प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आजकल ईश्वर कही चला गया है ? क्या कारण है कि आज ईश्वर पहले की भांति मनुष्यो का उत्पादन नही कर रहा। ऐसी स्थिति मे आप को यह मानना पडेगा कि ईश्वर यदि पहले ३२-३२ वर्षो के जोडे तिब्बत के पहाड पर उतार सकता था तो आज भी ऐसा कर सकता है। परन्तु ऐसा हो नही रहा है। इसी से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने ३२-३२ वर्षों के जोडे कभी उत्पन्न नही किए। मनुष्य जैसे पहले पैदा होता था, वैसे ही आज होता है, उस के लिए ईश्वर को माध्यम बनाने की कोई आवश्यकता नही है। मनुष्य की बात तो जाने दीजिए, वृक्ष और अन्य वनस्पति का भी बिना बीज के जन्म नही होता, तो मनुष्य अपने-आप आकाश से कैसे टपक पड़ा ?

जगत अनादि है—

जैनदर्शन का विश्वास है कि यह जगत अनादि और अनन्त है, ईश्वर या किसी अन्य दैविक शक्ति ने इसका कभी निर्माण नही किया और न कभी यह किसी से आमूलचूल नष्ट किया जा सकेगा। यह सत्य है कि ससार मे नाना-विध उतार-चढाव आते रहते है। जहा कभी नगर बसे हुए थे, आज वहा वीरान है, मनुष्य तो क्या पशु पक्षी की भी गन्ध नही है। "यहा कभी पहले नगर था" इस सत्य का साकेतिक चिन्ह भी प्राप्त नही हो रहा। जहा कभी सुन्दर-सुन्दर पुष्पवाटिकाए थी, पुष्प और फलो से भरे लहलहाते हुए उद्यान थे, वहा आज श्मशान जल रहे है, मानव की हड्डियो के ढेर लग रहे

है। इसी प्रकार जहा पहले स्रोत फूट रहे थे, दरिया बहते थे, वहा आज रेगिस्तान बन गया है। पुरानी बातो को जाने दीजिए। आज जहा पजाब की राजधानी बनने जा रही है, वहा पहले क्या था? बडे-बडे जगलो ने उस प्रदेश को घेर रखा था, कही नदिए बह रही थी, और कही कूलो की कलकल ध्वनि से वहा का प्रदेश ध्वनित हो रहा था, सर्वत्र पथरीली और ककरीली भूमि थी, किन्तु आज वहा एक नगर बसने जा रहा है, नए-नए विशाल भवन और नई-नई सडके बन रही है, पजाब की सारी राजसत्ता वहा केन्द्रित हो रही है। जिस प्रदेश को कोई जानता ही नही था, भारत के कोने-कोने मे आज उस की चर्चा हो रही है। इस के अलावा भाखड के बाध को कौन नही जानता? जब वह बाध बन कर तैयार हो जाएगा तो वहा एक छोटा सा समुद्र बन जाएगा। पीछे जापान मे एक भूचाल आया उससे वहा बडी उथल-पुथल हो गई। पजाब का सतलुज कभी लुधियाना से छू कर निकलता था, किन्तु आज वह उससे ९ मील दूरी पर है। इसी प्रकार अन्य भी अनेकविध परिवर्तन ससार मे होते रहते है। कुछ भी हो, किन्तु मूलरूप से यह जगत सदा अवस्थित रहता है। इस का मूलरूप कभी नष्ट नही होता। इसीलिए जैनदर्शन ने इस ससार को अनादि और अनन्त बतलाया है।

ससार मे अनादि पदार्थ भी है—

प्रश्न हो सकता है कि ससार मे जितने भी पदार्थ दृष्टि-गोचर हो रहे है, उन का कोई बनाने वाला अवश्य है। किसी न किसी व्यक्ति ने उन का निर्माण अवश्य किया है। घडी को ही

ले लीजिए। इस को भी किसी ने तो बनाया है। घडा भी बिना बिना बनाए नही बनता। गली, बाजार, सडके, पुल आदि सभी वस्तुए बनाने से बनती है। जब ये सब वस्तुए बिना बनाए नही बनी है, तो इतना बडा विशाल जगत बिना बनाए कैसे बन गया ? यह भी तो किसी ने बनाया ही होगा ? यह भी किसी रचयिता की रचना होगी ? और वह रचयिता ईश्वर है। ईश्वर ने ही इस विशाल जगत का निर्माण किया है।

उपराउपरी देखने से उक्त युक्ति सत्य प्रतीत होती है, किन्तु जब गभीरता से विचार किया जाता है तो इस युक्ति मे कोई तथ्य दृष्टिगोचर नही होता। क्योकि यह कोई सिद्धान्त नही है कि प्रत्येक पदार्थ किसी की रचना है। आत्मा को ही ले लीजिए। आत्मा एक पदार्थ है। जैनदर्शन और वैदिकदर्शन दोनो इस को नित्य मानते है, अज बतलाते है। दोनो दर्शनो का विश्वास है कि आत्मतत्त्व का किसी ने निर्माण नही किया है। गीता तो यहा तक कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचित्,
नाय भूत्वा भविता वा न भूय.।
*अजो नित्यः शाश्वतोऽय पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थात्—यह आत्मा किसी काल मे न जन्म लेता है और न मरता है। यह आत्मा हो करके न पुन होने वाला है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नही होता है।

---

* अध्याय २ श्लोक २०।

*नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! इस आत्मा को शस्त्र आदि काट नही सकते, आग जला नही सकती, जल आर्द्र (गीला) नही कर सकता और वायु इस आत्मा को सुखा नही सकती ।

गीताकार आत्मा को अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, अचल, सदा स्थायी और सनातन मानते है। इस से स्पष्ट है कि गीताकार के मत मे आत्मा किसी की कृति या रचना नही है। इस लिए यह कोई सिद्धान्त नही है कि प्रत्येक पदार्थ के पीछे कोई न कोई निर्माता अवश्य रहता है। यह सत्य है कि कुछ एक ऐसी वस्तुए है जिन को बनाया गया है। जैसे-घट, पट आदि। तथा जीव, अजीव आदि कुछ एक ऐसी वस्तुए भी है जो अनादि हैं, किसी ने उनका निर्माण नही किया है। यदि किसी भी पदार्थ को अनादि न माना जाए और यही मान लिया जाए कि सब पदार्थ किसी न किसी निर्माता को साथ लेकर चल रहे है। जहा-जहा पदार्थत्व है, वहा-वहा कर्तृत्व रहता है। अर्थात् कोई भी ऐसा पदार्थ नही है, जो बनाया न गया हो तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर भी एक पदार्थ है। उक्त सिद्धान्त को मान कर यदि हम चलते हैं, तो यह भी मानना होगा कि ईश्वर का भी कोई बनाने वाला होगा। जहा-जहा पदार्थत्व है, वहा-वहा कर्तृत्व है, इस सिद्धान्त से ईश्वर को बचाया नही जा सकता। जब घट-पट आदि सामान्य से पदार्थ भी किसी निर्माता की अपेक्षा रखते है, तो इतने

---

*अध्याय २, श्लोक २३।

वडे विशाल जगत का निर्माण करने वाले परमपिता परमात्मा का निर्माता भी कोई अवश्य होना चाहिए। यदि कहा जाए कि परमात्मा तो अनादि है, उसे वनाने वाला कौन हो सकता है ? तो "जहा-जहां पदार्थत्व है, वहां-वहां कर्तृत्व है" यह सिद्धान्त समाप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त को भी पकड कर रखना और साथ मे ईश्वर को उस से वचाना भी, ये दो वाते कैसे हो सकती है ? पुत्र की सत्ता स्वीकार करने पर उस के पिता से कैसे इन्कार किया जा सकता है ? वह तो मानना ही होगा। एक ओर कुआ है, तो दूसरी ओर खाई। इस से वचने का एक ही मार्ग है, वह यह कि जगत अनादि मान लिया जाए। यदि जगत को अनादि मान लेते हैं तो कोई विवाद उत्पन्न नही होता, और सभी प्रश्न अपने आप समाहित हो जाते है।

जगत्कर्ता ईश्वर पर आपत्तिया—

ईश्वर को जगत का निर्माता मान लेने पर ईश्वर पर अनेको आपत्तिया आती है। ईश्वर का ईश्वरत्व ही लड़खड़ा जाता है। ईश्वर को जगत का निर्माता स्वीकार कर लेने पर ईश्वर पर जो आपत्तिया आती हैं, मात्र दिग्दर्शन के लिए उन मे से कुछ एक का नीचे की पंक्तियो में निर्देश किया जाता है—

१—प्रत्येक पदार्थ जव ईश्वर की रचना है तो ईश्वर किस की रचना है ? जिस शक्ति ने ईश्वर का निर्माण किया है उसे वनाने वाला कौन है ?

२—ईश्वर ने संसार को किस तत्त्व से वनाया है ? कुम्हार जैसे माटी, चाक आदि कारण-सामग्री से घडा, प्याला आदि

पदार्थो का निर्माण करता है, वैसे ही ईश्वर ने ससार रूप घड़े को किस माटी से तैयार किया है ? और वह माटी कहा से आई तथा उसे किस ने बनाया ?

३—ससार का निर्माता ईश्वर है, ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, घट-घट का अन्तर्यामी है, इस तरह जब ईश्वर सर्वथा परिपूर्ण है, उस में किसी प्रकार की न्यूनता नही है, तो ईश्वर के बनाए हुए प्राणियो मे भेद-भाव क्यों ? सभी प्राणी एक जैसे होने चाहिए थे ? पर देखा जाता है कि जगत मे सभी प्राणी एक जैसे नही है, उन मे अनेकता है। कोई ट्ला है तो कोई लगडा, कोई अन्धा है तो आखो वाला, कोई निर्धन है तो कोई धनी, कोई प्रतिभाशाली है तो कोई मूर्ख, कोई राजा है तो कोई रक, कोई दाता है तो कोई भिखारी, कोई ठाकुर है तो कोई पुजारी, कोई पुरुष है तो कोई हीजडा, कोई चोर है तो कोई गाठ-कतरा, कोई जुआरी है तो कोई व्यभिचारी, कोई देशद्रोही है तो कोई धर्मद्रोही। जगत के प्राणियो मे इस प्रकार का अन्य भी द्वैविध्य पाया जाता है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान की रचना मे यह अन्तर क्यो ? कोई अच्छा और कोई बुरा यह पक्षपात क्यो ? यदि ईश्वर जगत का निर्माता है तो उस की सृष्टि मे यह विविधता क्यो ?

४—ईश्वर पूर्णतया स्वतन्त्र है, वह किसी के अधीन नही है, सर्वथा स्वाधीन है। अपनी ही इच्छानुसार जगत का निर्माण करता है तो उस ने ससार मे दु ख की रचना क्यो की ? ईश्वर ने सारे ससार को एकदम सुखमय क्यो नही बना डाला है ? दु ख की रचना करके उस ने प्राणिजगत को क्यो आकुल-व्याकुल बना दिया है ? यदि कहा जाए कि दु ख पापो का

परिणाम है, जीवनगत बुराइयो का फल है और पाप का फल यदि दुःख न होता तो मनुष्य निडर हो जाता, जी भर कर पाप करने मे जुट जाता, ऐसी दशा मे सारा ससार ही नरक बन जाता, इसलिए ईश्वर ने दुःख की रचना की है। तो हम पूछते है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने प्राणियों मे पापकर्म करने की बुद्धि ही क्यो उत्पन्न की ? बास के अभाव मे बांसुरी कहा ? ईश्वर यदि मानव में पापमय बुद्धि का निर्माण न करता तो पाप हो ही नही सकता था। कितनी विचित्र बात है कि पहले तो ईश्वर ने मनुष्य आदि प्राणियो मे पापकर्म करने की बुद्धि उत्पन्न कर दी और जब मनुष्य आदि प्राणी पाप करते हैं तो ईश्वर उन्हे दुःखरूप दण्ड दे डालता है। न ईश्वर पापबुद्धि को उत्पन्न करता और न ससार के प्राणी पाप करते। जब पाप करने की बुद्धि ईश्वर ने स्वय पैदा की है तो उस की जबाबदारी ईश्वर पर ही ठहरती है, उस का उत्तरदायित्व मनुष्य आदि प्राणियो पर कैसे आ सकता है ? ऐसा करने मे ईश्वर को न्यायकारी या दयालु कैसे कहा जा सकता है ?

५—ईश्वर की सृष्टि मे जितने मनुष्य आदि प्राणी है, सब मे विचार-सम्बन्धी भी एकता नही है। पशु-पक्षियो की बात तो जाने दीजिए। मनुष्यो को ही ले ले। मानवजगत नाना मतो और सम्प्रदायो मे बटा हुआ है। सब के भिन्न-भिन्न विश्वास हैं। सनातनधर्मी भाई कहते है कि ईश्वर मूर्तिपूजा से प्रसन्न होता है और मुसलमान कहते है कि ऐसा करने से वह रुष्ट हो जाता है। ऐसा क्यो ? एक ही रचयिता की रचना मे यह मतभेद क्यों ? क्या ईश्वर एक नहीं है ? हिन्दुओ का ईश्वर अलग है और मुसलमानो का अलग? यदि ईश्वर है और वह एक

है तो वह प्रत्यक्ष हो कर अपनी सारी स्थिति क्यो नही समझा देता ? अपने ही नाम पर अपनी ही सन्तति को मुर्गों की भाति क्यो लडने देता है ?

६—वैदिकधर्म को मानने वाले लोग वेद को ईश्वर की रचना मानते है और मुसलमान कुरान को खुदा का इलहाम कहते है। विचित्रता यह है कि वेद और कुरान दोनों में आकाश और पाताल सा अन्तर मिलता है। ऐसा क्यो ? ईश्वर भी अच्छा रहा, जो कभी कुछ कहता है, और कभी कुछ। मुसलमानो को काफिरो को मार देने मे स्वर्ग का प्रलोभन देता है और हिन्दुओ से कहता है कि ये म्लेच्छ हैं, इन से दूर रहो। इस प्रकार यह विरोध क्यो है ? यदि कहा जाए कि यह विरोध लोगो का अपना पैदा किया हुआ है, तो हम पूछते है कि विरोध पैदा करने वाले ऐसे लोगो को ईश्वर ने पैदा ही क्यो किया ?

७—वैदिकधर्म के अनुयायी लोग वेदो को ईश्वरकृत या ईश्वर की रचना मानते है। इसी मान्यता ने अपौरुषेयवाद को जन्म दिया है। पुरुषकृत वस्तु पौरुषेय और ईश्वर जिस तत्त्व का निर्माता हो उसे अपौरुषेय कहते है। वैदिक सस्कृति के प्रतिनिधि व्यक्ति वेदो को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं। वेदो को मानने वाले दो प्रकार के लोग है, एक सनातनधर्मी और दूसरे आर्यसमाजी। सनातनधर्मी और आर्यसमाजी दोनो ने वेदो को ईश्वरकृत माना है। दोनो ही वेदविहित आदेशो, उपदेशो तथा सन्देशो को ईश्वरीय स्वीकार करते हैं। पर दोनो के क्रियाकाण्डो मे, आचार-विचारो मे महान अन्तर

पाया जाता है। एक वेदो द्वारा मूर्तिपूजा का समर्थन करता है, तो दूसरा उन्ही वेदो को आधार बना कर उस का निषेध करता है। एक वेदो से पशुबलि और *मासाहार का विधान करता है और दूसरा उस का विरोध। एक वेदो से श्राद्ध, मृतकक्रिया आदि अनुष्ठानो को प्रमाणित करता है, और दूसरा उन को सर्वथा अप्रामाणिक ठहराता है। इस प्रकार वैदिक धर्म के अनुयायी लोगो मे वेदवाक्यो को लेकर पारस्परिक महान मतभेद और विरोध पाया जाता है। यदि ईश्वर ही सर्व-सर्वो है, और वस्तुत. वेद उसी को रचना है, तो अपने ही वेदो को आचार-विचार सम्बन्धी युद्ध के अखाड़े का कारण क्यो बनने देता है ? ईश्वर ने ऐसे विरोध-मूलक वेदो का निर्माण ही क्यो किया है ? जनमानस को लड़ाने वाले वेदो को बनाने की आवश्यकता ही क्या थी ? यदि कहा जाए कि वेदो मे परस्पर विरोध रखने वाली कोई बात नही है, विरोध तो मनुष्य ने स्वय अपनी बुद्धि से पैदा कर लिया है, तो हम पूछते हैं कि ईश्वर ने ऐसी बुद्धि वाले मनुष्यों को उत्पन्न ही क्यो किया ? वेदो को निमित्त बना कर जो परस्पर लड़ते हैं, झगड़ते हैं, एक दूसरे को कोसते हैं, उन को जन्म देने की आवश्यकता ही क्या थी ? यदि यह जैसे-तैसे हो ही गया था तो वेदमूलक सघर्षो को समाप्त करने के के लिए ईश्वर को अपने आदेश स्पष्ट कर देने चाहिएं थे। उसने आज तक प्रत्यक्षरूप से यह स्पष्टीकरण क्यो नही किया ? वह जनमानस को भ्रम मे क्यों रख रहा है ?

---

*देखो, मनुस्मृति अध्याय ३, श्राद्धविधि-प्रकरण

उक्त पक्तियो मे जगत्कर्ता ईश्वर पर आने वाली जिन आपत्तियो का उल्लेख किया गया है इन के अलावा ऐसी अन्य भी अनेको आपत्तिया उपस्थित की जा सकती है, किन्तु विस्तारभय से हम यही विश्राम लेते है। इन्ही आपत्तियो का कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता है, तो अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता भी क्या है ?

ईश्वर की प्रेरणा से कुछ नही होता—

वैदिकदर्शन का विश्वास है कि मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब ईश्वरीय सकेत के आधार पर करता है। मनुष्य जो खाता है, पीता है, उठता है, बैठता है, अधिक क्या ससार के प्राणियो द्वारा जो कुछ भी होता है, उस का मूलप्रेरक ईश्वर है। ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नही होता। इसी विश्वास को आधार बना कर कहा जाता है कि "करे करावे आपो आप, मानुष के कुछ नाही हाथ।" पत्ता भी हिलता है तो उस की रज़ा से, यह उक्ति भी उक्त विश्वास के कारण ही जन्म ले सकी है। वैदिकदर्शन के मतानुसार काठ की पुतली को जैसे बाजीगर नचाता है, वैसे ही ईश्वर मनुष्य को नचाता है उस से पुण्य और पाप के खेल करवाता रहता है। किन्तु जैनदर्श का ऐसा विश्वास नही है। वास्तव मे बात ऐसी है भी नही। ईश्वर ही सब कुछ करता है, मनुष्य कुछ भी नही कर सकता, यह एक भ्रान्त तथा तथ्यहीन विचारधारा है। इस के अन्धेरे मे तो पापाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार को फलने का तथा खुल कर खेलने का अवसर मिलता है। फिर तो दुनिया भर के पापी यही कहेगे कि हम पाप थोड़े ही कर रहे हैं। हम कुछ

नही करते है, जो कुछ होता है वह सब ईश्वर करता है। हम सब तो उस के हाथ के खिलौने हैं। एक दिन दुर्योधन ने वासुदेव श्री कृष्ण से भी यही कहा था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात्—हे केशव! धर्म-कर्म के सम्बन्ध मे मैं खूब जानता हू, पर उस पर चलना मेरे लिए मुश्किल है और अधर्म के मार्ग से भी मैं परिचित हू, पर उस से हट नही सकता। क्योकि मेरे जीवन की बागडोर मेरे हाथ मे नही है। मैं तो ईश्वर के हाथ की कठपुतली हू। वह जैसे मुझे नचाता है वैसा ही नाच नाचता रहता हू।

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक मान लेने पर दुनिया मे न कोई पापी रहेगा और न कोई धर्मी रहेगा? क्योकि पापी और धर्मी जो कुछ कर रहे हैं, उस का मूल प्रेरक ईश्वर है, उसी के सकेतानुसार ससार का घटीयन्त्र चल रहा है, इसलिए पाप और धर्म का उत्तरदायित्व भी ईश्वर पर आ गिरता है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए। कल्पना करो कि एक व्यक्ति है, वह अपने पुत्र को आज्ञा देता है। वह कहता है कि पुत्र! वह देखो, सामने एक लड़का खडा है, जाओ, उस के मुख पर एक तमाचा मार दो। पिता की आज्ञा मिलते ही आज्ञाकारी पुत्र झट दौड़ा और उस ने उस लडके के मुख पर जोर से एक तमाचा दे मारा, वापिस आकर अपने पिता से बोला—पिता

जी ! आप के आदेशानुसार मैने उस के तमाचा मार दिया है । इधर तमाचा खाकर लडका रोता हुआ अपने पिता के पास गया । पिता ने रोने का कारण पूछा, तो बोला—मुझे अमुक लडके ने मारा । बिना कारण पुत्र की मारपीट की बात सुन कर पिता को क्रोध आ गया और तत्काल जाकर उस ने तमाचा मारने वाले लडके को पकड लिया, लगा उस के तमाचे टिकाने, तो उस लडके ने कहा—मेरा क्या दोष है ? मुझे तो पिता जी ने कहा था । पिता जी के कहने पर ही मैंने इस के तमाचा मारा है । अब कहिए, दोषी कौन है ? यदि गभीरता से विचार किया जाए तो किस को दोषी ठहराया जायगा ? उत्तर स्पष्ट है । जिस की आज्ञा से जो कार्य हुआ है, उस से होने वाली हानि का उत्तरदायित्व आज्ञा देने वाले पर ही रहता है, आज्ञा मानने वाले पर नही । सेनापति यदि सेना को किसी स्थान पर आक्रमण करने की आज्ञा प्रदान करता है, तो उसकी जवाबदारी सेनापति पर है । जनता पर लाठी-चार्ज (Lathi Charge) करने वाले सिपाहियो पर लाठी-चार्ज का कोई उत्तरदायित्व नही होता, उस का उत्तरदायित्व तो लाठी-चार्ज का हुक्म देने वाले मैजिस्ट्रेट (Magistrate) पर हुआ करता है । ठीक इसी प्रकार यदि यह मान लिया जाए कि सब कुछ भगवान या ईश्वर के हुक्म से होता है, तो उस हुक्म को मानने वाले लोगो ने जो कुछ किया है, उसका उत्तरदायित्व भी ईश्वर पर रहेगा, उस उत्तरदायित्व से ईश्वर कभी बच नही सकता । जब जीवन की प्रत्येक शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूल ईश्वर है, उसी की प्रेरणा से या आज्ञा से जीवन मे सब घटनाएं घटित होती है तब घटनाजन्य परिणामो का

उत्तरदायी ईश्वर ही होगा, अन्य कौन हो सकता है ? क्योकि ईश्वर न मनुष्य को ऐसी प्रेरणा प्रदान करता और न मनुष्य उस प्रेरणाजन्य कार्य मे प्रवृत्त होता ।

ईश्वर को ससार का हर्ता-कर्ता मान कर यदि चलते है तो यह भी मानना होगा कि ससार मे जो कुछ हो रहा है, वह सब ईश्वर करा रहा है । धर्मी जो धर्म करता है, दान करता है, पुण्य करता है, किसी को सहायता प्रदान करता है तथा पापी पाप करता है, गाय, भैस, बकरी आदि प्राणियो की गरदनो पर छुरिया चलाता है, व्यभिचार करता है, सती-साध्वी सुशीला नारी का शील-भग करता है, अन्य जितने भी वह दुष्कर्म करता है उन सब की जबाबदारी ईश्वर पर आ जाती है। जब जीवनगत पुण्य पाप का कर्ता ईश्वर मान लिया जायगा तो यह भी मानना पडेगा कि पुण्य-पाप का फल ईश्वर को ही मिलना चाहिए, मनुष्य को नही । पर व्यवहार इस से सर्वथा विपरीत है । ससार मे मनुष्य ही सुख-दु.ख का उपभोग करता देखा जाता है । इस व्यवहार से यह भली भाति प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य जो कुछ करता है ईश्वर का उस से कोई सम्बन्ध नही है, उस मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है । ईश्वर की प्रेरणा से कुछ नही होता, जो कुछ होता है वह मनुष्य स्वय अपनी इच्छा से करता है ।

जैसे जीवनगत पाप के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही है ऐसे ही जीवनगत पुण्य के साथ भी ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही है । ईश्वर मनुष्य को न गिराता है और न उठाता है। मनुष्य के काम, क्रोध आदि विकार उसे गिराते हैं और अहिंसा, सयम, तप का आचरण मनुष्य को ऊचा उठाता है । एक बार

अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा था कि मनुष्य किस की *प्रेरणा से पाप करता है, न चाहता हुआ भी पाप मे क्यो प्रवृत्त हो जाता है ? इस पर श्री कृष्ण ने कहा था—अर्जुन ! काम, क्रोध आदि विकार ही मनुष्य को पापमय मार्ग पर ले जाते है, इन्ही के प्रभाव से मनुष्य कुपथगामी बनता है। उस समय श्री कृष्ण ने यह नही कहा कि पाप ईश्वर कराता है। उन्हो ने ईश्वर का नाम तक नही लिया। उन्हो ने उस समय वास्तविक तथ्य अर्जुन के सामने रखा था। वस्तुत मनुष्य की पापमय वृत्तियो के साथ ईश्वर का कोई सरोकार नही है। पाप का उत्तर-दायित्व मनुष्य पर है। जिस प्रकार मनुष्य द्वारा किए गए पाप के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही है, ठीक उसी प्रकार जीवन के उद्धार या उत्थान के साथ भी ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही है । यदि ईश्वर ही हमारा उद्धार करने वाला होता तो हम कभी के ऊपर उठ गए होते । हमारा उद्धार करने वाला अन्य कोई नही है। जब उठेंगे तो अपनी स्वय की अहिसा और सत्य की साधना की गहरी अगडाई लेकर अपने आप ही उठेंगे। भगवान महावीर ने "अप्पा कत्ता विकत्ता य" यह कहकर मनुष्य को स्वय अपने जीवन का निर्माता उद्घोषित किया है। योगवशिष्ठकार ने "नर कर्ता नरो भोक्ता, नर सर्वेश्वरेश्वर" यह बतला कर यही ध्वनित किया है कि मनुष्य ही अच्छे-बुरे कर्म करता है और उनका फल भी मनुष्य अपने आप ही भोगता है, यह मनुष्य तो ईश्वर का भी ईश्वर है। गीता अ० ६, श्लोक ५ मे भगवान कृष्ण भी इसी सत्य की प्रतिष्ठा करते हुए कहते हैं—

* देखो गीता, अ० ३ श्लोक ३६-३७

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्—मनुष्य अपनी आत्मा का स्वय उद्धार करे, उसे अधोगति मे ले जाने का वह यत्न न करे । क्योकि यह अपना शत्रु-स्वय ही है । बुराई के साचे मे ढलकर मनुष्य स्वय अपना शत्रु और जीवन पर अच्छाइयो का रग चढाने पर यह स्वय अपना-मित्र वन जाता है । भाव यह है कि आत्मजागरण की अगडाई लेकर मनुष्य सब कुछ कर सकता है । अपने उद्धार के लिए उसे ईश्वर का मुख ताकने की आवश्यकता नही है ।

ईश्वर भाग्य-विधाता नही है—

वैदिक धर्म का विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के तथा ससार के समस्त चराचर प्राणियो के भाग्य का निर्माण करता है, इस लिए वह भाग्यविधाता है । किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नही है । जैनधर्म कहता है कि भाग्य का निर्माण मनुष्य स्वय करता है । वह अपने ही शुभाशुभ आचरण के द्वारा अपने भाग्य के महल को खडा कर लेता है, ईश्वर का उस से कोई सम्बन्ध नही है । यदि ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का निर्माता मान लिया जाएगा तो यह भी मानना पडेगा कि मनुष्य जीवन मे जो दुराचारप्रधान प्रवृत्तिया पाई जाती है, वे भी ईश्वर ही कराता है । क्योकि ईश्वर ने मनुष्य का जैसा अशुभ भाग्य बना दिया है, वह उसी के अनुसार ससार मे अशुभ प्रवृत्तिया करता है । इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए । कल्पना करो । ईश्वर ने एक व्यक्ति को कसाई बना दिया है, चोर या डाकू बना दिया है तो निश्चित है कि वह अपने स्वभावानुसार

पशुओ की गरदनो पर छुरिया चलाएगा, हत्याएं करेगा, लोगो को लूटेगा, उन के धन, परिजन का अपहरण करेगा। परन्तु इस मे उस मनुष्य का कोई दोष नही होगा। क्योकि यदि ईश्वर उसे कसाई, डाकू या चोर न बनाता तो वह ऐसे दुराचारप्रधान दुष्ट कर्म न करता। ईश्वर को भाग्यविधाता मान कर यह स्वीकार करना ही होगा कि मनुष्य, पशु आदि के जीवन मे जो अशुभ प्रवृत्तिया चलती है, उन की जबावदारी ईश्वर पर है। यदि कहा जाए कि ईश्वर कब कहता है कि मनुष्य बुरे कर्म करे ? तो हम पूछते है कि मनुष्य बुरे कर्म क्यों करता है ? इसीलिए न कि उस की बुद्धि दूषित है, खराब है। दूषित तथा खराब बुद्धि की प्राप्ति का कारण क्या है ? मनुष्य का भाग्य, और उस दुष्ट भाग्य की रचना किस ने की है ? उत्तर स्पष्ट है, ईश्वर ने। न ईश्वर मनुष्य का ऐसा दुष्ट भाग्य बनाता और न मनुष्य ऐसे दुष्ट कर्मो का आचरण करता। जब ईश्वर ने स्वय ही मनुष्य का दुष्ट भाग्य बना डाला है तो विवशता से मनुष्य को भी वैसे कार्य करने पडते हैं। इस तरह मनुष्य आदि के जीवन मे जो भी अशुभ प्रवृत्तिया चलती है उन का मूल परम्परा से ईश्वर ही प्रमाणित होता है। इस प्रकार ईश्वर को भाग्यविधाता मान लेने पर उस पर ससार के सभी दोषो का उत्तरदायित्व आ गिरता है और मनुष्य उस उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इस सत्य को एक और उदाहरण से समझिए ? कल्पना करो। एक पापी व्यक्ति है। दिन रात पापाचार मे मग्न रहता है। एक दिन उस से किसी धर्मी ने पूछा, भाई ! तू इतना समझदार हो कर पाप क्यो कर रहा है ? तुझे परम-पिता

लेने पर ईश्वर पर ही दोषो का उत्तरदायित्व आ जाता है। इसलिए ईश्वर भाग्यविधाता नही है, यही मानना उपयुक्त और उचित प्रतीत होता है।

इस के अलावा, भाग्य का विधाता ईश्वर समभावी है, उस के यहा राग, द्वेष का चिन्ह भी नही है। फिर उस ने भाग्य का निर्माण करते समय किसी का भाग्य अच्छा और किसी का भाग्य बुरा क्यो बना दिया है ? सब प्राणियो का भाग्य उसे एक जैसा बनाना चाहिए था। पर देखा जाता है, कोई तो ऐसा भाग्यशाली है कि लक्ष्मी उस के चरण चूमती है, गगनचुबी अट्टालिकाओ मे रमणियो के साथ आनन्द लूटता है और कोई ऐसा भाग्यहीन है कि कौड़ी-कौडी को तरसता है, भूखा मरता है, दिन रात परिश्रम करने पर भी खाली ही रहता है। अपने परिवार का तो क्या, आराम के साथ अपना भी पेट नही पाल सकता। बेचारा भूखा सोता है। भूख की आग से झुलसा हुआ ही तड़प-तडप कर जीवन खो बैठता है। वीतरागी और समभावी ईश्वर के दरबार मे यह अन्धेर क्यो? यदि यह कहा जाए कि यह सब तो मनुष्य के दुष्ट कर्मो का परिणाम है तो हम पूछते है कि ईश्वर ने उस का ऐसा भाग्य ही क्यो बनाया, जिस से वह दुष्टकर्म करे ? वस्तुत. ईश्वर को भाग्यविधाता मान कर उस पर जो आपत्तिया आती है, उन का कोई सन्तोषजनक समाधान नही है। इसीलिए जैनदर्शन कहता है कि भाग्य का निर्माण मनुष्य स्वय करता है। अच्छा भाग्य बनाए या बुरा, यह सब मनुष्य के हाथ की बात है। परमपिता परमात्मा का उस मे कोई दखल नही है।

ईश्वर कर्मफलप्रदाता नही है—

ईश्वर को ससार का निर्माता मानने वाले लोग कहते है कि ईश्वर जहा ससार की रचना करता है वहा वह ससार मे शुभाशुभ कर्म करने वाले प्राणियो को उन के कर्मो के अनुसार शुभाशुभ फल भी देता है किन्तु जैनदर्शन का ऐसा विश्वास नही है। जैनदर्शन कहता है कि ससारी जीवो की सुख, दु ख, सम्पत्ति, विपत्ति, ऊच और नीच जितनी भी विभिन्न अवस्थाए दृष्टिगोचर होती है उन सब का मूल कारण कर्म है। जीवो की उक्त अवस्थाओ के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही है। कर्मवाद के मर्मज्ञ विद्वान् सन्त देवचन्द्र कहते है—

रे जीव ! साहस आदरो, मत थावो तुम दीन।
सुख दु:ख सम्पद् आपदा, पूरब कर्म अधीन॥

अर्थ स्पष्ट है। विद्वान सन्त ने मनुष्य को सावधान करते हुए कहा है कि तू साहसी बन, दीन, हीन होने की तुझे क्या आवश्यकता है ? तेरा सुख, दु ख, सम्पत्ति, विपत्ति सव पूर्वकृत कर्मो के अधीन है। पूर्व जो कुछ तूने वोया है, वही तेरे सामने आने वाला है। अत अपने को निराश मत कर। एक और विद्वान भी इसी सत्य को अपने ढग से प्रकट करते है—

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते॥

अर्थात्—आत्मा स्वय ही कर्म करने वाला है और स्वय ही उस का फल भोगने वाला है। आत्मा स्वय ही ससार मे भ्रमण करता है, कभी नरक, कभी स्वर्ग और कभी मनुष्यलोक मे

चला जाता है। तथा यही आत्मा एक दिन धर्म-साधना के द्वारा स्वय ही कर्म-बन्धन से विमुक्त हो जाता है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मो का फल देने वाली, तथा जीव को एक गति से दूसरी गति मे ले जाने वाली ईश्वर नाम की कोई शक्ति नही है। संसार के पदार्थो मे जो परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे स्वयं ही प्राकृतिक नियमो के अनुसार होते रहते है। वहां ईश्वर को माध्यम बनाने की कोई आवश्यकता नही है। उदाहरण के लिए, जल को ही ले लीजिए। धूप की उष्णता पा कर जल भाप बनकर आकाश मे उड़ जाता है। आकाश के शीत भाग में पहुच वह भाप छोटे-छोटे जल बिन्दुओ के रूप मे परिवर्तित हो कर मेघ के रूप मे दिखलाई देती है। फिर मेघो के भारी हो जाने पर वर्षा का होना, बिजली का चमकना, गड़गड़ाहट का घोर शब्द होना आदि जितनी भी बातें देखी जाती हैं, ये अपने-आप ही सदा होती रहती है। इन का कोई सचालक नही है। ये सब घटनाए व परिवर्तन प्राकृतिक नियमो के अनुसार स्वत. ही होते रहते है। इसी प्रकार मनुष्य को उस के पूर्वकृत कर्म का फल देने वाला, एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाला, माता के गर्भ मे भ्रूण अवस्था से लेकर यौवन और वृद्धावस्थापर्यन्त शरीर की वृद्धि व उस का ह्रास करने वाला तथा जीवन की अन्य जितनी भी अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं, उन को निश्चित एव व्यवस्थित करने वाला ईश्वर नाम का कोई पुरुष-विशेष या शक्ति-विशेष नही है। ये सब कार्य कर्मजन्य प्राकृतिक नियमो के अनुसार अपने आप ही सदा होते रहते हैं।

जैनदर्शन की दृष्टि से कर्म परमाणु-स्वरूप है। वे ही समय आने पर प्राकृतिक नियमो के अनुसार मनुष्य को अपना फल दे डालते है। कर्म-परमाणु किस पद्धति से अपने कर्ता को फल प्रदान करते है? इस की झाकी कर्मवाद के प्रकरण मे दिखलाई जा चुकी है। जिज्ञासु उस प्रकरण को देखने का कष्ट करे।

जैनदर्शन ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता स्वीकार नही करता है। ईश्वर को यदि कर्मफल-प्रदाता मान लिया जाए तो ईश्वर जीवो को फल किस प्रकार देता है ? यह विचारणीय है। वह स्वय साक्षात् तो दे ही नही सकता क्योकि ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता मानने वाले लोग उसे निराकार बतलाते है और यदि वह साकारावस्था मे प्रत्यक्षरूप से फल दे तो इस बात को मानने से किसे इन्कार हो सकता है ? परन्तु ऐसा देखा नही जाता। यदि वह राजा आदि के द्वारा जीवो को उन के कर्मो का दण्ड दिलवाता है तो ईश्वर पर अनेको दोष आते है। जानकारी के लिए कुछ एक दोषो का वर्णन नीचे की पक्तियो मे किया जाता है —

१—ईश्वर को यदि किसी धनी के धन को चुरा या लुटा कर उस धनी के पूर्वकृत कर्म का फल देना अभीष्ट है, तो ईश्वर इस कार्य को स्वय तो आकर करता नही है, वह किसी चोर या डाकू द्वारा ही ऐसा करा सकता है। और जिस चोर या डाकू द्वारा ईश्वर धनी को अशुभ कर्मजन्य अशुभ फल दिलवाएगा तो चोर या डाकू ईश्वर की आज्ञा का पालक होने से निर्दोष माना जाएगा। तथापि दोषी ठहराकर पुलिस जो उसे पकड लेती है और दण्ड देती है वह ईश्वर के न्याय से बाहिर की बात माननी पडेगी। यदि उसे भी ईश्वर के न्याय मे मान कर

चोर को चोरी करने का दण्ड पुलिस द्वारा दिलवाना आवश्यक समझा जाएगा तो वह ईश्वर का अच्छा अन्धेर न्याय है कि एक ओर तो वह स्वय धनी को दण्ड देने के लिए चोर को उस के घर भेजता है और दूसरी ओर पुलिस द्वारा उस चोर को पकडवाता है। क्या यह ' -चोर को चोरी करने की बात कहे और शाह से जागने की—, इस कहावत के अनुसार ईश्वर मे दोगलापन नही आ जाएगा ?

ईश्वर ने प्राणदण्ड देने के लिए ही कसाई, चण्डाल तथा सिह आदि हिसक जीव पैदा किए है। तदनुसार वे प्रतिदिन हजारो जीवो को मार कर उन के कर्मो का फल उन्हे देते हैं। ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता मान लेने पर ये सभी जीव निर्दोष समझने चाहिए। क्योकि वे भी ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य कर रहे है। यदि ईश्वर इन जीवो को निर्दोष माने तब उस के अन्य सभी जीव जो कि दूसरो को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुचाते है, निर्दोष ही समझने चाहिए। यदि उन्हे भी दोषी माना जाएगा तो यह उन के साथ महान अन्याय होगा। क्योकि राजा की आज्ञा के अनुसार अपराधियो को उन के अपराध का दण्ड देने वाले जेलर, फासी लगाने वाले चण्डाल आदि सभी जीव जब न्याय की दृष्टि से निर्दोष माने जाते है, तब उन के समान ईश्वर की प्रेरणानुसार अपराधियो को उन के अपराध का दण्ड देने वाले प्राणी दोषी कैसे हो सकते है ?

२—ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ माना जाता है, अत उस के द्वारा दी गई सज़ा अमिट होनी चाहिए। पर ऐसा होता नही है। उदाहरण के लिए, ईश्वर ने किसी व्यक्ति को उस के अशुभ कर्म का फल देकर उन के नेत्रो की नज़र कमज़ोर कर

दी। इस से वह न तो कोई दूर की वस्तु साफ देख सकता है, और न छोटे-छोटे अक्षरो वाली कोई पुस्तक ही पढ सकता है। ईश्वर का दिया हुआ यह दण्ड अमिट होना चाहिए था, परन्तु उस व्यक्ति ने डाक्टर से ऐनक ले ली और आखो पर लगा कर ईश्वर की दी हुई सजा को निष्फल कर दिया। वह ऐनक लगा कर दूर की चीज साफ देख लेता है और बारीक से बारीक अक्षर भी पढ लेता है। इसी भाति ईश्वर की भेजी हुई प्लेग, हैजा आदि बीमारियो को डाक्टर लोग, सेवासमितिया अपने अनथक परिश्रम से बहुत कम कर देती है। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर का दिया हुआ दण्ड अमिट नही रहने पाता है। लोगो द्वारा उसे समाप्त या कम कर दिया जाता है। इस के अलावा, कर्मो का फल भुगताने के लिए भूकम्प भेजते समय ईश्वर को यह भी ख्याल नही रहने पाता कि जहा मेरी आराधना और उपासना होती है, ऐसे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि धर्म-स्थानो को नष्ट करके अपने उपासको की सम्पत्ति को नष्ट न होने दू। सर्वदर्शी भगवान अपने स्थानो की यह दुरवस्था क्यो करता है ?

३—ससार जानता है कि चोर, डाकू आदि आततायी लोगो की सहायता करना एक भयकर पाप है। ऐसा करना लोक-विरुद्ध होने के साथ-साथ धर्मविरुद्ध भी है। यदि लोग चोर, डाकू आदि दुष्ट लोगो की स्वार्थवश सहायता करते हैं तो वे शासन-व्यवस्था के अनुसार दण्डित किए जाते है ? ऐसी दशा मे जो ईश्वर को कर्मफलप्रदाता मानते है और यह समझते है कि किसी का जो दु ख मिलता है, वह उस के अपने कर्मो का फल है और वह फल भी ईश्वर का दिया हुआ है। फिर भी यदि वे

किसी अन्धे, लूले, लगडे, अनाथ और असहाय की सहायता करते है, तो यह ईश्वर के साथ विद्रोह नही तो और क्या है ? क्या वे ईश्वर के चोर की सहायता नही कर रहे ? क्या ईश्वर ऐसे द्रोही व्यक्तियो पर प्रसन्न रह सकेगा ? इस के अलावा, यदि—'दु खी और असहाय व्यक्ति की सहायता करना, ईश्वर के साथ द्रोह करना है—' ऐसा मान लिया जाए तो दया, दान आदि सात्त्विक और परोपकारपूर्ण अनुष्ठानो का कुछ महत्त्व रह सकेगा ? उत्तर स्पष्ट है, बिल्कुल नही।

४—ईश्वर जीवो के कृतकर्मों के अनुसार उन के शरीर आदि का निर्माण करता है। जीवो के कर्मों के अनुसार ही वह जीवो को फल देता है। अपनी इच्छानुसार वह कुछ नही कर सकता। ऐसी दशा मे यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर परतन्त्र है। और परतन्त्रता की बेडियो मे जकडा व्यक्ति कभी ईश्वर नही कहा जा सकता। जुलाहा जैसे कपड़े बनाता है, किन्तु वह परतन्त्र है। स्वार्थ, परिवार, समाज आदि के बन्धनों मे बन्धा हुआ है। इसलिए उसे ईश्वर नही कहा जा सकता। कर्माधीन होने से ठीक ऐसी ही स्थिति ईश्वर की है। जीवो के किए हुए कर्मों से वह रत्ती भर भी इधर-उधर नही जा सकता। उसे सब कुछ कर्मो के अनुसार ही करना पड़ता है। इस से ईश्वर की परतन्त्रता स्पष्ट ही है।

५—किसी प्रान्त मे किसी सुयोग्य न्यायप्रिय शासक का शासन हो तो उस के प्रभाव से चोरो, डाकुओ तथा आततायी लोगो का चोरी आदि दुष्टकर्म करने मे ज़रा साहस नही पड़ता और उद्दण्डता छोड कर वे प्राय सत्पथ अपना लेते है। जिस से प्रान्त मे शान्ति स्थापित हो जाती है और वहा के लोग निर्भय-ता से सानन्द यत्र-तत्र विहरण करते हैं। परन्तु यह समझ मे

नही आता कि जब ससार का शासक ईश्वर है और वह ऐसा शासक है जो सर्वथा दयालु है, न्यायशील है, सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है और सर्वदर्शी है, तथापि ससार मे बुराई कम नही होने पाती। मासाहारियो, व्यभिचारियो और चोर आदि हिंसक लोगो का आधिक्य ही दृष्टिगोचर हो रहा है । सर्वत्र छल, कपट और ईर्षा-द्वेष की आग जल रही है । ऐसी दशा मे कैसे कहा व माना जाए कि ईश्वर ससार का शासक है ?

६—जब कोई मनुष्य चोरी करता है तो उस पर राज्य की ओर से व्यवस्थित ढग से अभियोग चलाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि उस व्यक्ति ने चोरी की है, या अमुक अपराध किया है तो न्यायाधीश (जज) उस को जेल या जुरमाना आदि का उपयुक्त दण्ड देता है। तब अपराधी व्यक्ति तथा अन्य लोग यह जान जाते हैं कि चोरी आदि दुष्कर्मो का फल जेल आदि के रूप मे दण्ड मिलता है। इस दण्ड का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति और साधारण जनता यह भी जान जाती है कि चोरी आदि दुष्ट कर्म नही करने चाहिए। यदि किए जाएगे तो जेल आदि के रूप मे दण्ड भुगतना पडेगा। फल-स्वरूप भविष्य मे किसी व्यक्ति का चोरी आदि लोकविरुद्ध तथा राज्यविरुद्ध कार्य करने मे जरा भी साहस नही होने पाता। जनता का सुधार हो, इसी उद्देश्य से अपराधी को दण्ड दिया जाता है। परन्तु यदि किसी देश का शासक किसी अपराधी को पकड़ या पकडवा कर जेल मे डाल दे और उस पर कोई अभियोग न चलाए और न यही प्रकट करे कि इस व्यक्ति ने क्या अपराध किया है ? तो ऐसी दशा मे जनता उस व्यक्ति को निर्दोष और शासक को अन्यायी समझने

लगेगी। अपराध तथा उस के फलस्वरूप दण्ड का वोध न होने से जनता कभी भी उस व्यवस्था से शिक्षित भी नही हो सकती। इस का कुफल यह होगा कि न कोई अपराध करने से डरेगा और न उस व्यक्ति का सुधार होगा।

नाथूराम गोडसे ने सैकडो व्यक्तियो के सामने राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के सीने मे तीन गोलिया मारी थी। इसलिए उसे हत्यारा प्रमाणित करने के लिए किसी गवाह की आवश्यकता नही थी और विधानानुसार भारत सरकार गोडसे को फासी दे सकती थी, परन्तु भारत सरकार ने ऐसा नही किया। वल्कि व्यवस्थित रूप से अदालत मे गोडसे को हत्यारा प्रमाणित करने के अनन्तर ही फासी दी गई। राज्यव्यवस्था को जीवित रखने का यही सर्वोत्तम ढग होता है। अपराध के प्रमाणित न होने पर अपराधी को दण्डित करना किसी भी तरह उचित और न्याय-सगत नही कहा जा सकता।

ईश्वर ससार का शासक है। उसे भी उक्त पद्धति के अनुसार ही दण्डव्यवस्था का प्रयोग करना उचित है, किन्तु ऐसा होता नही हे। जव कोई व्यक्ति मनुष्य योनि मे जन्म लेता है और जन्म से ही वह अन्धा और पगु शरीर वाला वनता है। उस व्यक्ति को उस के परिवार को तथा अन्य देशवासियो को यह ज्ञात नही होने पाता कि यह अधत्व और पगुत्व किस कर्म के प्रकोप का परिणाम हे? किसी को भी मालूम नही होने पाता कि यह सदोष शरीर किस कर्म के कारण इस व्यक्ति को मिला हे? सव के सर्वथा अज्ञात रहने के कारण उक्त दुष्ट शरीर की प्राप्ति के मूलभूत दुष्कर्मो के उत्पादक अशुभ कार्यों का किसी को ज्ञान नही होने पाता। इस से दण्ड देने का

यह उद्देश्य कि अपराधी भविष्य मे अपराध न करे और लोगो को इस से शिक्षा प्राप्त हो, सफल नही होने पाता। ईश्वर का कर्तव्य वनता है कि वह किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने से पूर्व उस के अपराध को प्रमाणित करे और यह स्पष्ट करे कि इस व्यक्ति ने अमुक दुष्कर्म किया था, इसलिए इस को अमुक दण्ड दिया जाता है। ऐसा करने से ही ईश्वर की दण्डमर्यादा सफल हो सकती है। ऐसा करने से ही जनमानस उस दुष्कर्म से भयभीत हो कर उस का परित्याग कर सकता है। इस के अलावा, ऐसा करने से ही दण्डित व्यक्ति का सुधार सभव हो सकता है और भविष्य मे वह पापकर्म से बच भी सकता है। परन्तु ईश्वर ऐसा करता नही है।

७—जो ईश्वर कर्म का फल देने का सामर्थ्य रखता है, उस मे अपराधी को दुष्कर्म से रोकने की क्षमता भी रहती है। लौकिक व्यवहार भी ऐसा ही है। जो शासक डाकुओ के दल को उस के अपराध के फलस्वरूप जेल मे वन्द कर सकता है अथवा प्राणदण्ड दे सकता है तो उस शासक मे यह भी शक्ति होती है कि यदि उस को पता चल जाए कि डाकुओ का दल अमुक गाव मे या अमुक नगर मे अमुक समय पर डाका डालेगा और लोगो के जीवनधन को लूटेगा तो उस शासक का कर्तव्य बनता है कि वह डाका डालने के समय से पूर्व ही डाकुओ को डाका डालने से रोके, उन्हे गिरफतार करे। यदि शासक जान-बूझ कर प्रजा के धनमाल का सरक्षण नही करता है तो वह अपने कर्तव्य की हत्या करता है, और न्यायालय द्वारा अपराधी प्रमाणित करके दण्डित किया जाता है। अनेको वार देखा गया है कि सत्याग्रह करने वाले स्वयसेवक सत्याग्रहस्थान पर

पहुचने भी नही पाते, किन्तु राज्याधिकारी उन्हे पहले ही गिरफ-तार कर लेते हैं। यह सब कुछ क्यो होता है ? इसलिए कि वे लोग राज्य-मर्यादा को भग करना चाहते है। अत. राज्य-मर्यादा-भग करने की योजना बनाने वालो को, या डाका डालने वालो को राज्य-मर्यादा-भग करने या डाका डालने के अनन्तर ही बन्दी बनाया जाए, इस से पूर्व नही, ऐसा कोई सिद्धान्त नही है।

कर्मफलप्रदाता ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, और साथ मे परमदयालु भी है। वह जानता है कि अमुक व्यक्ति यह अपराध करेगा, और इस समय करेगा। ऐसी दशा मे उसका कर्तव्य बनता है कि वह अपराधी की भावना को परिवर्तित कर दे, अपराध करने का जो उस ने निश्चय किया है उसे बदल दे, या उस के मार्ग मे ऐसी बाधाए उपस्थित कर दे कि जिस से वह अपराध कर ही न सके। इस के विपरीत यदि ईश्वर अपराधी के अपराधमय भावो को जानता हुआ भी, और उसे रोकने का सामर्थ्य रखता हुआ भी अपराधी को अपराध करने से नही रोकता प्रत्युत अपराधी को अपराध करने देता है तो यह मानना पडेगा कि वह भी अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है। ऐसे कर्तव्यभ्रष्ट ईश्वर को कर्तव्यपालक, न्यायशील, दयालु और शन्तिप्रिय कैसे कहा व माना जा सकता है ? यदि कहा जाए कि ईश्वर ने जीवो को कर्म करने की स्वतन्त्रता दे रखी है। जीव यथेच्छ कर्म कर सकता है, ईश्वर उस मे बाधक नही बनता है। तो हम पूछते है कि ईश्वर लोगो को उन के कर्मो का फल ही क्यो देता है ? इसीलिए कि प्राणियो का सुधार हो या अपना मनोविनोद तथा अपने

शासन की महत्त्वाकाक्षा को पूर्ण करने के लिए वह ऐसा करता है ? यदि जन-गण-मन का सुधार करना ईश्वर का उद्देश्य है, फिर तो उसे जीवो को दुष्कर्म करने से पूर्व ही रोक देना चाहिए, ताकि लोगो मे पापाचार करने की भावना ही न रहे और यदि ईश्वर यह सब कुछ अपने मनोविनोद के लिए करता है, तथा अपने शासन को बनाए रखने की उसे चिन्ता है, तो हम कहते है कि लोगो के हित की चिन्ता न करके केवल अपने ही मनोविनोद और शासन की भूख को पूर्ण करने का ध्यान रखने वाला व्यक्ति कभी ईश्वर के सिहासन पर नही बैठ सकता है, उसे ईश्वर कहना ही एक बहुत बडी भूल है।

८—ससार मे अनन्त जीव है और उन मे एकेन्द्रिय जीवो को काय, यह एक, विकलेन्द्रिय जीवो को काय, वचन, ये दो, और शेष सभी पञ्चेन्द्रिय जीवो को काय, वचन, मन, ये तीन कर्म करने के साधन प्राप्त हो रहे है। प्रत्येक जीव इन कर्म-साधनो द्वारा सदा कुछ न कुछ करता ही रहता है। एक जीव की क्षण-क्षण की क्रियाओ का इतिहास लिखना और उन का उस को फल देना यदि असभव नही है, तो कठिन अवश्य है। जब एक-एक जीव के क्षण-क्षण के कार्यों का ब्योरा रखना एव उन का फल देना इतना दुष्कर है तो ससार के अनन्त जीवो की क्षण-क्षण की क्रियाओ का ब्योरा रखना एव उन का फल देना ईश्वर के लिए कितना दुष्कर कार्य होगा ? यह स्वत स्पष्ट हो जाता है। इस के अलावा, ससार के अनन्त जीवो के क्षण-क्षण मे किए गए कर्मों के फल देने मे लगे रहने से ईश्वर किस तरह शान्त और अपने आनन्दस्वरूप मे कैसे मग्न रह सकता है ? यह भी

विचारणीय है ।

परमपिता परमात्मा या ईश्वर कर्मफल देने के झझट क्यो करता है ? ईश्वर को क्या आवश्यकता पडी है कि वह ससार के अनन्त जीवो के कर्मो का हिसाव रखे और फिर उन्हे दण्ड दे ? क्या ये जीव ईश्वर को कष्ट पहुचाते है ? या उस के साम्राज्य मे कोई विघ्न-बाधा उपस्थित करते है ? राजा चोर को दण्ड देता है, इस मे उस का अपना स्वार्थ होता है । पर ईश्वर का इस झझट को खरीदने मे क्या स्वार्थ है ? एक ओर कहा जाता है कि ईश्वर मे कोई विकार नही है, क्रोध, मान, माया आदि जीवनदोषो का उस मे सर्वथा अभाव है, फिर वह क्यो इस पचड़े मे पडता है ? क्यो रुद्र बन कर कभी त्रिशूल अपनाता है, क्यो महाप्रलय लाकर कभी ससार का सत्यानाश कर देता है ?

९—देखा जाता है कि किसी कर्म का फल कर्ता को तुरन्त मिल जाता है और किसी का कुछ समय के बाद मिलता है, किसी का कुछ वर्षो के वाद और किसी का जन्मान्तर मे मिलता है । इस का क्या कारण है ? कर्मफल के भोग मे यह विषमता क्यो देखी जाती है ? क्या ईश्वर के यहा भी रिशवते चलती हैं, जिस ने रिशवत दे दी उस की मनचाही कर दी और जिस ने न दी उस को वुरी तरह पीस दिया । क्या कारण है, जो किसी को आगे और किसी को पीछे कर्मो का फल भुगताया जाता है ।

ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता मान कर चलते है तो उक्त प्रकार की अन्य भी अनेको आपत्तिया ईश्वर पर आती है, जिन का कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता है । इसलिए जैन-

दर्शन कहता है कि कर्मफल के भुगताने मे ईश्वर का कोई हाथ नही है । वल्कि कर्मपरमाणु स्वय ही प्राकृतिक नियमो के अनुसार कर्ता को फलानुभव करवा डालते है ।

जैनदर्शन की इस मान्यता का जैनेतर दर्शन के प्रसिद्ध धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता मे भी पूरा-पूरा समर्थन मिलता है । वहा लिखा है—

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु. ।
न कर्मफलसयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पाप, न चैव सुकृत विभुः ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥

—गीता अ० ५-१४, १५

अर्थात्—ईश्वर न तो इस लोक की रचना करता है, न किन्ही कर्मो का निर्माण करता है और न वह प्राणियो को उन के शुभाशुभ कर्मों का फल देता है । सभी कुछ स्वभाव से हो रहा है, प्राकृतिक नियमो के कारण ही ससार का चक्र चल रहा है । इस के अलावा, ईश्वर किसी के पाप, पुण्य का उत्तरदायित्व भी नही लेता है । वस्तुस्थिति यही है कि जीव अज्ञान से आवृत होने के कारण भूलभूलैया मे पडे हुए है ।

कर्मो का फल कैसे मिलता है ?

जैनदर्शन का अटल विश्वास है कि ईश्वर कर्मो का फल नही देता है । यहा प्रश्न हो सकता है कि फिर कर्मो का फल कैसे मिलता है ? जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे कौन ले जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे जैनदर्शन वहुत सुन्दर वात वतलाता है । वह कहता है कि अनादिकाल से जीव के

साथ ❋कार्मण शरीर रहता है जो जीव को सुख और दुःख देता है और उसे एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने का कारण बनता है। माता के गर्भ मे कलल से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध बनाने वाला भी यही है। शरीर-सम्बन्धी सभी बातो को निर्धारित करने वाला तथा जीव की चेतन शक्ति को आवृत करके उस के शुद्ध आनन्दस्वरूप को विकृत बनाने वाला भी यही है। इसी के प्रताप से जीव काम, क्रोध आदि विभावो मे परिणत होता रहता है।

कार्मणशरीर के सूक्ष्म पुद्गलो मे व्यक्ति के पूर्वकृत कर्म का फल देने की शक्ति वैसे ही निवास करती है, जैसे विद्युत्यन्त्र बैटरी (Battery) मे विद्युत शक्ति रहती है। इस शक्ति के प्रभाव से कर्म-परमाणु समय-समय पर जीव को अपने शुभा-

---

❋ प्राकृतिक नियमो के अनुसार जीवो को जो शक्ति कर्म-फल प्रदान करती है, उसे कार्मण शरीर कहते है। जैनदर्शन का विश्वास है कि दीपक जैसे बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से ज्वाला रूप मे परिणत कर देता है, बदल देता है। वैसे ही आत्मा काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारो से कर्मयोग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे कर्मरूप में परिणत कर लेता है। उन्ही कर्म-पुद्गलो के समूह का नाम कार्मणशरीर है। इस कार्मणशरीर को कार्मणशक्ति या सूक्ष्मशरीर भी कहते है। कार्मणशरीर सारे चेतन शरीर मे व्यापक है, यह शरीर के किसी एक भाग मे केन्द्रित नही रहता है, प्रत्युत आत्मा की भाति सारे शरीर मे व्याप्त है और आत्म-प्रदेशो के साथ क्षीर-नीर की तरह मिला रहता है।

शुभ फलों का भुगतान कराते रहते है। और यही शक्ति जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाती है। जैसे चुम्बक पत्थर की आकर्षण शक्ति द्वारा खिच कर लोहा उस की ओर चला आता है, वैसे ही जीव इस कार्मणशक्ति के द्वारा आकर्षित हो कर इस वर्तमान शरीर को छोड कर दूसरी योनि मे उत्पन्न होता है। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा समझ लीजिए।

कल्पना करो। चुम्बक पत्थर के सामने लोहा पडा है और उस पर एक मक्खी बैठी है। जिस समय चुम्बक के आकर्षण से लोहा उस की ओर आकर्षित होता है तो लोहे के साथ-साथ उस के ऊपर बैठी मक्खी भी आकर्षित होती चली जाती है। चुम्बक से खिचा लोहा जिधर को जाता है तो उधर को मक्खी भी खिसकती चली जाती है। जैसे मक्खी को आकर्षित करने वाला तत्त्व परम्परा से वह चुम्बक पत्थर ही ठहरता है, ठीक वैसे ही कार्मणशरीर से युक्त आत्मा को जिस स्थान पर उत्पन्न होना होता है, उस स्थान मे स्थित परमाणु उसे आकर्षित कर लेते हैं, उत्पत्तिस्थान के परमाणुओ का तथा आत्मस्थ कर्मपरमाणुओं का रेडियो की भाति ऐसा विचित्र और अवाच्य आकर्षण होता है कि जिस के प्रभाव से आत्मा स्वत ही अपने उत्पत्तिस्थान मे पहुच जाती है। जैनदर्शन की दृष्टि मे आत्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचाने वाली शक्ति केवल कर्माणुओ और उत्पत्तिस्थान मे अवस्थित परमाणुओ का पारस्परिक आकर्षण ही है। जिस प्रकार रेडियो स्टेशन से प्रसारित हुए भाषा-पुद्गल रेडियो के द्वारा आकर्षित कर लिए जाते है। ठीक वैसे ही मूलस्थान से निकला हुआ कर्मबद्ध आत्मा उत्पत्तिस्थान मे स्थित परमाणुओ द्वारा आकर्षित कर लिया

जाता है। इसलिए जैनदर्शन कहता है कि जीव के परलोकगमन मे परमाणु ही कारण है, ईश्वर या किसी अन्य शक्ति का उस के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

परमाणुओ मे एक विलक्षण आकर्षण तथा चामत्कारिक शक्ति निवास करती है, उसी के कारण परमाणुओ द्वारा अनेकों ऐसे कार्य सम्पन्न होते हैं, जिन्हे सुन कर एक साधारण व्यक्ति तो विस्मित हो उठता है और उसे सर्वथा असभव मान बैठता है। पर आज के परमाणुयुग मे यह सब कुछ असभव नही रहा है। परमाणु कैसे-कैसे असभावित कार्य कर डालते हैं? इस का निर्देश कर्मवाद के प्रकरण मे कर दिया गया है। पाठक इसे देखने का यत्न करे। रही कर्मपरमाणुओ द्वारा फल देने की वात, इस के सम्बन्ध मे भी कर्मवाद मे प्रकाश डाला जा चुका है। जैनदर्शन का विश्वास है कि कर्मपरमाणु अपना फल स्वयं देते है, उस के लिए किसी न्यायाधीश (जज) की ज़रूरत नही है। जैसे शराब पीने पर व्यक्ति को नशा हो जाता है और दूध पीने पर व्यक्ति का मस्तिष्क पुष्ट होता है। शराव या दूध पीने पर उन का फल देने के लिए जैसे किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की आवश्यकता नही होती, वैसे ही जीव को कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियो द्वारा उस के साथ जो कर्म-योग्य परमाणु सम्बन्धित होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मप्रदेशो से लोह-अग्नि की भाति मिल जाते हैं, उन मे भी शराव और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति निवास करती है, जो चेतन के सम्बन्ध से व्यक्त हो कर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और जिस से प्रेरित हुआ यह जीव ऐसे-ऐसे काम करता है जो उस के सुख और दुःख का

कारण बनते हैं।

ईश्वर अवतार नही लेता है–

वैदिकदर्शन मे विश्वास पाया जाता है कि ‡जब-जब धर्म की हानि होती है, अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब भगवान अवतार धारण करता है और वह साधु पुरुषो का उद्धार करता है तथा पापियो का विनाश। किन्तु जैनदर्शन का ऐसा विश्वास नही है। जैनदर्शन कहता है कि जो परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, अनन्त शक्तिसम्पन्न है, जिस के स्मरण से हृदय शान्ति के सरोवर मे डूब जाता है, उस परमात्मा को कभी कछुआ बना देना, कभी मछली और कभी सूअर बना देना, यह सर्वथा अनुचित है, असगत है। ईश्वर क्या हुआ ? एक अच्छा खासा बहुरुपिया बन गया, जिसे न जाने कितने स्वाग धारण करने पडते हैं ? किसी अवतारवादी से पूछा जाए कि इस समय ससार मे इतना अनर्थ हो रहा है, सर्वत्र पापाचार का दानव नग्न नृत्य कर रहा है, धर्म, कर्म सब बदनाम हो रहे हैं, ऐसी स्थिति मे परमात्मा मौन क्यो बैठा है ? इस भीषण और भयावह समय मे भी वह अवतार धारण क्यो नही करता ? तब वह एक पेटेण्ट (Patent) घडा-घडाया उत्तर देता है। वह कहता है कि अभी पाप का घडा भरा नही है ! खूब रही,

---

‡ यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय, सभवामि युगे-युगे ॥
(गीता अ० ४-७, ८)

घड़ा भी वडा अनोखा है, जो कभी तो हाथी की चिंघाड मात्र से भर जाता है और कभी भूमण्डल के सभी प्राणियो को करुण-क्रन्दन से भी नही भरने पाता। कभी तो ईश्वर नाई के वदले राजा के पैर दवाने के लिए भागा चला आता है और कभी हकीकत के रूप मे भक्त प्रभुचरणो मे अपने जीवन का वलिदान भी कर देता है तव भी उस के कानो पर जू नही रेंगती तथा कभी तो द्रौपदी के अग को ढकने के लिए ईश्वर वस्त्रों की वर्षा कर देता है और अब (हिन्द और पाकिस्तान के विभाजनकाल मे) जवकि हजारो नही, लाखो द्रौपदियो को सरे-बाज़ार नग्न किया गया और उन्हे निर्दयता-पूर्वक विडम्वित करके नचाया गया, तथापि भगवान को दया नही आई। कितनी विचित्र लीला है उस ईश्वर की ? सच तो यह है कि ईश्वर को अवतारवाद के साथ जोड कर उस का उपहास किया गया है।

जव मुक्त आत्मा कर्मो से सर्वथा उन्मुक्त होता है, ऐसी दशा मे वह पुन कर्मो के वन्धन मे आ जाता है, यह विल्कुल समझ से परे की वात है । ईश्वर को सर्वथा निष्कर्म मान लेने पर उसका अवतार कैसे सभव हो सकता है ? निष्कर्म आत्मा नवमास अन्धेर कोठडी मे उलटा लटके, यह विल्कुल असभव है।

तत्त्वार्थसूत्र के दशम अध्याय मे आचार्यवर उमास्वाति ने समस्त कर्मो के आत्यन्तिक नाश का नाम मोक्ष वतलाया है। *मोक्षप्राप्त आत्मा कर्मो से सर्वथा रहित होती है, उस के साथ कर्मो का अश भी शेष नही रहने पाता है। निष्कर्म आत्मा को किसी भी प्रकार का कोई कर्मवन्ध नही हो सकता।

---

* कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ।

कर्मबद्ध आत्मा ही जन्म-मरण के चक्र मे फंसा करती है, यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। अत. निष्कर्म ईश्वर अवतार ले, जन्म-मरण के पचडे मे फसे, यह कैसे सभव हो सकता है ?

अवतारवाद का सिद्धान्त सर्वथा थोथा और खोखला सिद्धान्त है। इस के पीछे कोई दार्शनिक बल नही है। एक ओर ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न माना जाता है, दूसरी ओर उसे अवतारवाद के पचडे में फसाया जाता है। ईश्वर जब सर्वशक्तिसम्पन्न है तो फिर वह मत्स्य, वराह और मनुष्य आदि का रूप धारण क्यों करता है ? क्या वह जहा बैठा है, वही से ही भूमि का भार हलका नही कर सकता ? जब उसे पापियों का नाश ही करना है, उन का गला ही घोटना है, तो यह काम वह वही वैकुण्ठ-धाम में बैठा-बैठा क्यो नही कर देता ? यदि उस में ऐसा करने की क्षमता नही है तो वह सर्वशक्तिसम्पन्न है, यह कैसे कहा जा सकता है ? दूसरी बात, पापियो का नाश करने मे भला उस भगवान की क्या महत्ता है ? और क्या ऐसा करने से पाप सदा के लिए खतम हो जायगा ? पापियो के नाश से पाप का नाश हो जायगा, यह मिथ्या विश्वास है। जैनदर्शन कहता है कि पापी बुरा नही होता, पाप बुरा होता है। पापी का गला घोंटने से पाप नही मर सकता। क्योंकि पापी मर कर भी जहां जाता है, वही वह अपने साथ पाप के संस्कार ले जाता है। पापी के सुधार का यह ढंग नही है। पापी का सुधार करना है तो पाप का गला घोटना पडता है। पाप की मृत्यु हो जाने पर पापी पापी नही रहता है, यदि वह सत्पथगामी बन जाता है तो धीरे-धीरे वाल्मीकि या अर्जुनमाली की तरह संसार का एक ऋषि बन जाता है। अत. पाप के विनाश के

लिए पापी का नाश करना जैनदर्शन को इष्ट नही है। पापियो का नाश कर देने मे ईश्वर की कोई विशेषता भी नही है? उस की विशेषता तो उन का सुधार करने मे है।

जैनदर्शन मनुष्य के उत्तार (ऊपर उठने) की बात कहता है। यहा ईश्वर का मानव के रूप मे अवतरण नही होता, ईश्वर ऊपर से नीचे नही आने पाता। बल्कि मानव का ईश्वर के रूप मे उत्तरण होता है, मानव नीचे से ऊपर की ओर जाता है। जैन सस्कृति मे मनुष्य से बढकर कोई प्राणी नही है। उसकी दृष्टि मे मनुष्य केवल हाड-मास का चलता-फिरता पिजरा नही है, प्रत्युत अनन्त शक्तियो का पुज है, देवताओ का भी देवता है, अनन्त सूर्यों का भी सूर्य है। मनुष्य मे वह शक्ति है कि जिस के प्रभाव से यह ससार की समस्त शक्तियो को नतमस्तक कर सकता है, मुक्ति के पट भी उसी के द्वारा खोल सकता है। मगर आज वह शक्ति मोह-माया के घने अन्धकार से अच्छादित हो रही है। अहिंसा, सयम और तप के दिव्यालोक मे जिस दिन यह मनुष्य अपने अज्ञानाधकार को नष्ट करके निज चिदानन्द-स्वरूप को उपलब्ध कर लेगा उस दिन यह अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक ज्योतियो का पुज बन कर शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर परमात्मा बन जायगा। इस मे और परमात्मा मे कोई अन्तर नही रहेगा, दोनो एकरूप हो जाएगे। जैनसस्कृति मे मनुष्य की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर या परमात्मा है। यही जैनदर्शन का उत्तारवाद है। यह मानव को सत्य, अहिंसा की साधना द्वारा ईश्वर बनने की आदर्श प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार जैनदर्शन का उत्तारवाद मानवजगत को ऊपर उठना सिखलाता है, इन्सान को भगवान बनने की कला

बतलाता है, यह वैदिकदर्शन की तरह अवतारवाद के माध्यम से ईश्वर को पशु, मनुष्य आदि के रूप मे परिवर्तित करने की बात नही कहता और नाही मनुष्य को ईश्वर का गुलाम या उस के हाथ की कठपुतली बनाता है।

ईश्वर-स्मरण क्यो आवश्यक है ?

वैदिकदर्शन ईश्वर को जगत का निर्माता, भाग्यविधाता, कर्मफलप्रदाता मानता है, उस का विश्वास है कि ईश्वर भक्ति से, पूजा से, पाठ से, जप से प्रसन्न होता है और ईश्वर की प्रसन्नता कल्पवृक्ष की भाति कामनाओ को पूर्ण करती है, इसलिए उस का स्मरण, जाप अवश्य करना चाहिए, किन्तु जैनदर्शन कहता है कि ईश्वर जगत का निर्माता नही है, भाग्यविधाता या कर्मफलप्रदाता भी नही है। जैनदर्शन की आस्था है कि ईश्वर वीतराग है, उसके यहा राग द्वेष का चिन्ह भी नही है। अतः उस की भक्ति करने से वह प्रसन्न नही होता और यदि उस की पूजा न की जाए तो इस से उस को कोई रोष भी नही होता है। हर्ष और शोक से वह सर्वथा मुक्त है। इस के अलावा, मनुष्य की कामनाओ को न वह पूर्ण करता है और न वह मनुष्य-जीवन मे किसी भी प्रकार की भयावह स्थिति उत्पन्न करता है। अधिक क्या, मनुष्य-जीवन मे जो सुख और दुःख चलते है, उन के साथ उस का कोई सम्बन्ध नही है। तो फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर हमारा कुछ नफा-नुक्सान नही करता, तो ईश्वर का भजन करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के समाधान मे जैनदर्शन कहता है कि भले ही ईश्वर मनुष्य का नफा नुक्सान नही करता है, तथापि उस का भजन, स्मरण, कीर्तन तो करना ही चाहिए। चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का

‡"कित्तिय-वन्दिय-महिया" यह पद स्पष्ट रूप से ईश्वर के कीर्तन तथा स्मरण की ओर सकेत कर रहा है। अत ईश्वर के कीर्तन, स्मरण करने मे पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, किन्तु यह स्मरण ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नही करना है। ईश्वर तो वीतराग है। लोग उस का नाम ले या न ले, इस से उस का कोई सम्बन्ध नही है। कोई नाम ले तो उस पर ईश्वर को कोई हर्ष नही, और कोई नाम न ले तो उस पर कोई रोष नही है। ईश्वर हर्ष-शोक की उपाधियो से सर्वथा विमुक्त है। अत उसको प्रसन्न करने के लिए ईश-स्मरण नही करना चाहिए। ईश्वर का स्मरण ईश्वर के लिए नही बल्कि अपने लिए करना है, अपनी शुद्धि तथा शान्ति के लिए ही ईश्वर का स्मरण किया जाता है और करना भी इसी विचार से चाहिए। ईश को प्रसन्न करके कामना-पूर्ति की दृष्टि से उस का स्मरण करना तो भाण्ड-चेष्टा के समान हो जाता है। जैसे भाण्ड राजा की प्रसन्नता के लिए उस की स्तुति करता है, और उससे अपना स्वार्थ साधना चाहता है, ऐसे ही जो भक्त, "स्तुति से ईश्वर प्रसन्न होगा और उस से अपनी कामनापूर्ति हो जायेगी" इस लिए ईश-स्तुति करता है। उसमे और उस भाण्ड मे कोई अन्तर नही है। क्योकि दोनो ही स्वार्थी हैं और स्वार्थ-परायणता दोनो मे एक जैसी ही पाई जाती है।

ईश्वर का स्मरण और चिन्तन आत्मशुद्धि और आत्म-शान्ति

---

‡ कीर्तित—देव मनुष्यो द्वारा स्तुति को प्राप्त, वन्दित—जिसे वदना की गई है, महित-पूजित, सम्मानित।

के लिए ही करना चाहिए। जैसे दर्पण को देखकर मनुष्य अपने मुंह पर लगे हुए दाग को साफ कर लेता है, ऐसे ही ईश्वर को आदर्श मानकर मनुष्य अपनी आत्मा को धो सकता है, अपनी आत्मा पर काम, क्रोध आदि विकारो के जो दाग लग रहे है, उन की जानकारी होने पर उन को दूर कर सकता है। क्योकि आत्मा और परमात्मा मे केवल विकारो का ही अन्तर है। यदि इस अन्तर को मिटा दिया जाए तो दोनो बराबर हो जाते है। उस अन्तर को तभी मिटाया जा सकता है। जब उसका बोध हो। बोध तभी हो सकता है, जब अपनी आत्मा का और ईश्वर का चिन्तन और मनन किया जाए। ईश्वर का चिन्तन-मनन करके मनुष्य उस के स्वरूप को जान लेता है, और फिर उस स्वरूप को अपने अदर प्रकट करने का यत्न करता है। पथिक को जिस पथ पर चलना होता है, सर्वप्रथम उसे उस गन्तव्य पथ को समझने की आवश्यकता होती है, मार्ग को जाने विना उसपर चलना असभव है। ऐसे ही ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए उस के स्वरूप को समझना होगा, और समझने के अनन्तर उसे प्राप्त करना होगा। इस की प्राप्ति होने पर आत्मशुद्धि और आत्मशान्ति का लाभ स्वत ही हो जाता है। अत: ईश्वर का स्मरण और चिन्तन अध्यातम जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

दु:खो के उत्पादक राग और द्वेष ये दो जीवन के विकार हैं। इन दोनो को दूर करने के लिए रागद्वेष रहित परमात्मा का आलंबन (सहारा) लेना नितान्त आवश्यक है। स्फटिक के पास जिस रग का फूल रखा जाता है, जैसे वह उस रग को

अपने मे ले लेता है। ऐसे ही रागद्वेष के वातावरण में बैठकर जीव को रागद्वेप के सस्कार मिलते है और वीतराग प्रभु का चिन्तन करने से आत्मा मे वीतराग भाव का संचार होता है और धीरे-धीरे आत्मा निजस्वरूप मे आकर अनन्त आनद और ज्ञान की अनन्त विभूति से मालामाल हो जाता है ।

ईश्वर का नाम इतना पवित्र और सात्त्विक होता है कि जब कोई व्यक्ति शुद्ध हृदय से उस का चिन्तन करता है, उस के गुणो मे रमण करता है, तो उस समय उस के हृदय मे कोई विकार उत्पन्न नही होने पाता । मन सर्वथा शान्त और निर्विकार वन जाता है । हृदय में अनुपम और अपूर्व सा उल्लास नाच उठता है। ऐसी दशा यदि लगातार बनी रहे और इस दिशा में मानव अपना अभ्यास लगातार बढ़ाता रहे तो एक दिन उस का अन्तरात्मा इतना एकाग्र हो जाता है कि फिर वह कभी विषयो की ओर जाने नही पाता है और अन्त मे विकारो का सर्वथा खातमा करके वह ईश्वरस्वरूप वन जाता है। अत जीवन को ईश्वरस्वरूप मे लाने के लिए मनुष्य को ईश्वरीय गुणो का चिन्तन और मनन करते ही रहना चाहिए।

ईशस्मरण का सव से वड़ा प्रत्यक्ष लाभ यह होता है कि मनुष्य जव तक ईशस्मरण मे लगा रहता है, ईश्वर के गुण गाता रहता है, कम से कम उतने समय के लिए बुराईयो से वचा रहता है। १६ आने गवाने की अपेक्षा यदि दो आने भी वचा लिए जाएं तो वह अच्छा ही है। इसी तरह मन यदि सारा दिन पवित्र नही रहने पाता तो जितने क्षण भी वह सात्त्विक औरपवित्र वना रहे, उतना ही अच्छा है, जीवन के उतने ही क्षण सफल हो जाते हैं। इसीलिए भक्तराज कबीर ने कहा है—

सास सफल सो जानिए, जो प्रभु-सिमरण में जाय ।
और सांस यू ही गए, कर-कर बहुत उपाय ॥

ईशस्मरण करते समय एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ईशस्मरण करने के साथ-साथ ईश्स्वरूप को प्राप्त करने के लिए शास्त्रो में जो साधनसामग्री का निर्देश किया गया है,उसे भी जीवन मे उतारने का यत्न करते रहना चाहिए। केवल उच्च स्वर से ईश्वर, ईश्वर करने से कोई विशेष लाभ नही हो सकता है। पालतू तोता दिन मे सैंकडो बार राम-राम बोलता है, पर -उस से उसे ईश्वरस्वरूप की प्राप्ति थोडे ही हो सकती है ? ईश-गुणो को जीवन का साथी बना कर ही ईश्वरस्वरूप को पाया जा सकता है। अत ईश-भजन करने के साथ-साथ जीवन मे जो विकार नाच रहे है, उन का परिहार करना भी अत्यावश्यक है और ईश्वरप्राप्ति के लिए शास्त्रों मे जो साधन वर्णित है उन्हे जीवनागी बनाना भी ज़रूरी है। इसी मे जीवन का कल्याण निहित है।

सासारिक महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति को आगे रखकर ईश्वर-स्मरण करना अध्यात्मजीवन का एक बड़ा दोष माना गया है। क्योकि ईश्वर तो वीतराग हैं। वहा राग-द्वेष का सर्वथा अभाव है। अत ईश्वर का नाम लेने से वह प्रसन्न होगा, प्रसन्न होकर हमारी कामना पूर्ण करेगा,- ऐसी आशा कभी नही रखनी चाहिए। जैनदर्शन किसी भी आध्यात्मिक अनुष्ठान को ऐहिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए करने का सर्वथा निषेध करता है। जैनदर्शन के लब्धप्रतिष्ठ आगम श्री दशवैकालिक सूत्र के नवम अध्ययन मे लिखा है कि तपस्वी साधु ऐहिक

सुखो के लिए तप का आराधन न करे, स्वर्गादि के सुखों के लिए तप न करे, आत्मप्रशंसा के लिए तप को जीवन मे न लाए, किन्तु केवल आत्मशुद्धि तथा कर्मों की निर्जरा के लिए ही तप का अनुष्ठान करे। ईश-स्मरण भी एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है, अत. इस अनुष्ठान को भी किसी ऐहिक स्वार्थ को लेकर नही करना चाहिए । इस का आराधन तो केवल स्वच्छ तथा परमार्थ की भावना से ही करना चाहिए ।

ईश्वर-प्राप्ति का उपाय–

लोग प्राय' एक प्रश्न किया करते हैं कि जैनधर्म की दृष्टि से ईश्वरप्राप्ति का सरल उपाय कौनसा है ? इस के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत में थोड़ी सी चर्चा कर लेनी उपयुक्त रहेगी। ईश्वरवाद के प्रकरण मे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की उपेक्षा भी कैसे की जा सकती है ?

वैदिकदर्शन में "ईश्वर-प्राप्ति" इस शब्द का अर्थ समझा जाता है—ईश्वर को पा लेना, ईश्वर के स्वरूप को समझ लेना या अपनी सत्ता को मिटा कर ईश्वर में सदा के लिए लीन हो जाना। जैसे जलकण सागर में मिल कर सागररूप हो जाता है, ऐसे जीव भी जो ईश्वर का अश है, ईश्वर में मिल कर ईश्वररूप हो जाता है, उस की अपनी सत्ता सदा के लिए समाप्त हो जाती है। इन्ही भावो का परिचायक शब्द है—ईश्वरप्राप्ति। किन्तु जैनदर्शन इस ईश्वरप्राप्ति मे विश्वास नही रखता है। जैनदर्शन तो भक्त को स्वय भगवान बन जाने की बात कहता है। उस का मन्तव्य है कि भगवान की तर्फ मत दौड़ो, किन्तु अपने जीवन मे ही भगवत्तत्त्व को जगाओ।

तुम्हारा अपना आत्मा ही परमात्मा है । पर आज उस पर विकारो का आवरण आया हुआ है, इसलिए भगवज्ज्योति छिप गई है। तथापि निराश होने वाली कोई बात नही है। धर्माचरण कर के उस आवरण को दूर किया जा सकता है। धर्माचरण द्वारा तुम्हारा आत्मा धर्मात्मा और महात्मा की भूमिकाओ को पार करता हुआ एक दिन परमात्मा वन सकता है। अपने आत्मा को परमात्मा बना लेना ही जैनदर्शन मे ईश्वरप्राप्ति कही जाती है ।

जैनदर्शन ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग भी सुझाता है। वह कहता हैं कि आत्मा से धर्मात्मा, धर्मात्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिए अपना आहार वदलो, अपना विचार वदलो, अपना आचार बदलो और अपना व्यवहार बदलो। सर्वप्रथम आहार को सात्त्विक वनाओ। फिर आहार की सात्त्विकता विचारो को सात्त्विक बना देगी । विचारो की सात्त्विकता आचार की उन्नति का कारण वनेगी और आचार की उन्नति से व्यवहार समुन्नत वन जायगा। इस प्रकार चारो की शुद्धि से जीवन शुद्ध बन सकता है और जीवनगत विकारो को सदा के लिए समाप्त किया जा सकता है। वस्तुत आत्मा और परमात्मा मे भेद डालने वाली सब से वडी शक्ति या दीवार जीवनगत विकार ही है। विकार ही आत्मा के परमात्मतत्त्व को आच्छादित कर रहे है और उसे प्रकट होने नही देते है। राहु और केतु, जैसे सूर्य और चन्द्र को ग्रसित कर लेते हैं, उन पर छा जाते हैं, ऐसे ही विकारो ने आत्मा को ग्रस रखा है और यही उस की समस्त शक्तियो को कुण्ठित कर रहे हैं। हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, असन्तोष तथा

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग,द्वेष ये सब जीवन के विकार हैं। इन्ही के कारण नानारूप बनाकर यह आत्मा संसार का नाटक खेलता रहा है, इन्ही के प्रभाव से दुर्गतियो के भीषण कष्ट भेलता आ रहा है और यही विकार संसार के विषवृक्ष की जड़ो को सदा सीचते रहते हैं। जब तक इन विकारों का खातमा नही होता, तब तक दु:खों से छुटकारा नही मिल सकता। इन की समाप्ति पर ही आत्मा के कर्म-बन्धन टूट सकते हैं और उस मे परमात्मज्योति जगमगा सकती है। विकारों की समाप्ति अन्तर्जगत की शुद्धि पर निर्भर है। अन्तर्जगत की शुद्धि के लिए आहार, विचार, आचार और व्यवहार गत सात्त्विकता की अपेक्षा हुआ करती है। अहिंसा, संयम, तप की त्रिवेणी मे गोते लगाने की ज़रूरत है। इन्ही साधनों द्वारा आत्मा के विकारो का परिमार्जन किया जा सकता है, इन्सान से भगवान, आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। वायु का प्रबल वेग जैसे मेघों को दूर हटा कर सूर्य और चन्द्र को निरावरण बना देता है, ऐसे ही अध्यात्मसाधना का प्रबल वेग आत्मा के विकारजन्य आवरण को दूर हटा कर उसे निरावरण बना डालता है। आत्मा को निरावरण बना लेना ही जैनदृष्टि से ईश्वर को पा लेना होता है। निरावरण आत्मा और परमात्मा में जैनदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

ईश्वरवाद और आस्तिकता-

वैदिक दर्शन का विश्वास है कि जैनदर्शन नास्तिक है, आस्तिक नही है। इस का कारण वह यह बतलाता है कि जैनदर्शन ईश्वर को जगत का निर्माता नहीं मानता, मान्य-

विधाता नही कहता, तथा उसे कर्मफलप्रदाता नही बतलाता। जैनदर्शन का ईश्वर को ससार का सर्वेसर्वा स्वीकार न करना हो उस की नास्तिकता का मूल कारण है, ऐसी मान्यता है वैदिकदर्शन की। किन्तु इस मान्यता मे कोई तथ्य नही है। वैदिकदर्शन की उक्त मान्यता सर्वथा निराधार है, इस के पीछे कोई दार्शनिक बल नही है और नाही इस को शब्दशास्त्र का समर्थन प्राप्त है।

आस्तिक-नास्तिक शब्द को व्याकरणसम्मत परिभाषा को समझ लेने के अनन्तर आस्तिक-नास्तिक सम्बन्धी वैदिकदर्शन सम्मत उक्त मान्यता स्वत ही निराधार प्रमाणित हो जाती है। सर्वप्रथम आचार्यदेव शाकटायन का अभिमत समझ लीजिए। आचार्यदेव अपने शाकटायन व्याकरण मे लिखते है—

दैष्टिकास्तिकनास्तिका. ३/२/६१

दैष्टिकादयस्तदस्येति षष्ठ्यन्ते ठणन्ता निपात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य, दिष्ट दैव प्रमाणमिव मतिरस्येति वा दैष्टिक। अस्ति पुण्यपापमिति च मतिस्येत्यास्तिक। एव नास्तीति नास्तिक।

शाकटायन व्याकरण के साथ-साथ पाणिनीय-व्याकरण सिद्धान्त-कौमुदी मे पण्डितप्रवर भट्टोजी दीक्षित ने भो आस्तिक और नास्तिक इन शब्दो पर अपना अभिमत प्रकट किया है। उसे भो जान लीजिए। वहा लिखा है—

अस्ति नास्ति दिष्ट मति।४/४/६०

तदस्य इत्येव। अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिक। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिक। दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिक।

आचार्यप्रवर शकटायन और पण्डितप्रवर भट्टोजी दीक्षित दोनो वैयाकरणो ने आस्तिक-नास्तिक शब्दो की व्याख्या, व्युत्पत्ति तथा इन के अर्थ का भी निर्देश किया है। दोनो के अभिमतानुसार आस्तिक और नास्तिक शब्द की मूलप्रकृति अस्ति और नास्ति है। अस्ति शब्द सत्ता का और नास्ति शब्द निषेध का परिचायक है। परलोक, पुण्य और पाप की सत्ता मे जिस का विश्वास है, वह आस्तिक है और इन मे जिस का विश्वास नही है, उसे नास्तिक कहते है। आस्तिक और नास्तिक शब्द की इस व्याकरणसम्मत परिभाषा मे कही ईश्वर का नामोनिशान नही है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकदर्शनसम्मत आस्तिक शब्द की "-ईश्वर को जगत का सर्वेसर्वा मानता है, वही आस्तिक होता है-" यह परिभाषा सर्वथा कपोल-कल्पित है और इस के पीछे शब्द शास्त्र का कोई बल दृष्टिगोचर नही होता है।

आस्तिक नास्तिक शब्द का ऐतिहासिक चिन्तन करने से मालूम होता है कि अस्तिक-नास्तिक शब्द पहले-पहल व्याकरणसम्मत परिभाषा के अनुसार ही व्यवहार मे लाए जाते थे, किन्तु आगे चल कर इन मे ईश्वर शब्द जोड़ दिया गया। ईश्वर शब्द भी सामान्य रूप से परमात्मा का परिचायक नही था! बल्कि एक पारिभाषिक अर्थ को ले कर उस का प्रयोग किया गया था। जो एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, जगन्नियन्ता है, उस शक्तिविशेष को ईश्वर समझा जाता था। इस तरह दोनों शब्दों की "-जो जगन्नियन्ता ईश्वर को मानता है, वह आस्तिक और जो उस से इन्कार करता है, वह नास्तिक-" यह परिभाषा निश्चित कर दी गई। आस्तिक-नास्तिक शब्दों की मूल परि-

भाषा को यही तक नही बदला गया । बल्कि आगे चल कर इस को और भी अधिक विकृत कर दिया गया । मनुस्मृति मे लिखा है—

वेदनिंदको नास्तिक

अर्थात्—वेद को न मानने वाला नास्तिक होता है ।

जैनदर्शन वेदो को अपौरुषेय नही मानता है, वेदो मे यज्ञो के नाम पर की जाने वाली पशुहिसा का जो विधान है, मूर्तिपूजा द्वारा जड मे चेतनता का जो आरोप है, तथा श्राद्ध आदि जो अन्य अनेकविध असगत विश्वास पाए जाते है, उन्हे जैनदर्शन स्वीकार नही करता है, इस लिए मनुस्मृतिकार की दृष्टि मे जैनदर्शन नास्तिकदर्शन कहलाता है । किन्तु मनुस्मृति के उक्त कथन मे कोई सत्यता नही है । क्योकि अपने से विरुद्ध किसी दर्शन की मान्यता को न मानने से ही किसी को नास्तिक नही कहा जा सकता है । यदि ऐसा ही है, फिर तो सभी दर्शन नास्तिक बन जाएगे । कोई भी दर्शन आस्तिक नही रहेगा । क्योकि सभी दर्शनो का प्राय पारस्परिक दार्शनिक विरोध तो चलता ही है । और तो और, स्वय वैदिकदार्शनिको मे दार्शनिक एकता का अभाव है । सनातनधर्मी भाई मूर्तिपूजा, ईश्वर का अवतार, श्राद्ध, हिसामय यज्ञ आदि को वेदविहित मानते हैं, किन्तु आर्यसमाजी इन का सर्वथा विरोध करते है । दोनो ही वेदानुयायी है । तथापि दोनो मे महान भिन्नता है । ऐसी दशा मे सनातनधर्मी आर्यसमाजी की दृष्टि मे नास्तिक और सनातनधर्मी की दृष्टि मे आर्यसमाजी नास्तिक होगे । पर दोनो अपने को आस्तिक मानते है । इसलिए मनुस्मृतिकार का

उक्त कथन व्यवहारिक तथा दार्शनिक किसी भी दृष्टि से संगत नही माना जा सकता है।

आस्तिक-नास्तिक शब्दो को व्याकरणसम्मत परिभाषा आगे चलकर किस प्रकार परिवर्तित कर दी गई और उसके साथ ईश्वर को कैसे जोड़ा गया? क्यो जोड़ा गया ? 'वेदनिन्द-को नास्तिक." की कल्पना के पीछे क्या अभिप्राय रहा हुआ है ? इन सब प्रश्नो के समाधान प्राप्त करने के लिए हमारे सहृदय पाठकों को परमश्रद्धेय जैनधर्मदिवाकर, आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा विनिर्मित "आस्तिक-नास्तिक-समीक्षा–" नामक पुस्तिका का अध्ययन करना चाहिए। यह पुस्तिका-जैनशास्त्रमाला कार्यालय, जैनस्थानक, लुधियाना, से प्राप्त की जा सकती है।

तुन्हे ईश्वर को ढूण्ढने कहा जाना है ? क्या गरीब, और निर्बल ईश्वर नही है ? पहले उन्ही की पूजा क्यो नही करते? तुम गंगा के किनारे खड़े हो कर कूआ क्यो खोदते हो ?

— स्वामी विवेकानन्द

... .

शुद्ध बनना और दूसरो को भलाई करना ही सब उपास-नाओं का सार है। जो गरीबो, निर्बलो और पोडितों मे शिव को देखता है, वही वास्तव मे शिव का उपासक है।

— स्वामी विवेकानन्द

अपरिग्रह-वाद

मगलमूर्ति भगवान महावीर का पाचवा सिद्धान्त अपरिग्रह-वाद है। भगवान ने जितना बल अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतो पर दिया है, उस से भी कही अधिक बल उन्होने अपरिग्रह पर दिया है। क्योंकि कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान अपरिग्रह को छोड़ कर एक पग भी आगे नही बढ सकता है। अपरिग्रह को अपनाए बिना और परिग्रह का त्याग किए बिना अहिंसा जीवित नही रह सकती। अपरिग्रह के अभाव मे सत्य-सूर्य असत्य के काले-काले घिनौने बादलो से आच्छादित हो जाता है। परिग्रह के हिमपात से अचौर्य का सरस पौधा सूखने लगता है, परिग्रह के प्रहारों से ब्रह्मचर्य का महादेव कराह उठता है और परिग्रह का दानव सन्तोष का तो सर्वस्व ही लूट लेता है। वस्तुत परिग्रह अध्यात्म जीवन का सब से बडा शत्रु है। आत्मा को सब ओर से जकडने वाला यह सब से बड़ा बन्धन है। इसीलिए भगवान महावीर ने सयम और साधना के पथ पर चलने वाले साधक को परिग्रह से सदा बचने की महाप्रेरणा प्रदान की है। अध्यात्मवाद के सर्वोच्च शिखर पर खडे होकर एक दिन भगवान महावीर ने स्वय कहा था—

चित्तमतमचित्त वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्न वा अणुजाणइ, एव दुक्खाण मुच्चइ ॥

(सूत्रकृताग १/१/१/२)

अर्थात्—जो साधक किसी भी तरह का परिग्रह स्वय रखता है, दूसरो से रखवाता है, अथवा रखने वालो का अनुमोदन करता है, वह कभी भी दु खो से मुक्त नही हो सकता।

"नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो,
अत्थि सव्व-जीवाणं सव्वलोए"

—प्रश्नव्याकरण पञ्चम आश्रवद्वार

अर्थात—समग्र लोक के समस्त जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर कोई बन्धन नही है।

परिग्रह का अर्थ—

अपरिग्रह का प्रतिपक्षी परिग्रह होता है। सामान्य रूप से धन, सम्पत्ति आदि वस्तुओ का नाम परिग्रह है किन्तु वास्तव मे परिग्रह आसक्ति या ममता का नाम है। ममताबुद्धि के कारण वस्तुओ का अनुचित सग्रह करना या अवश्यकता से अधिक सग्रह रखना परिग्रह कहलाता है। वस्तु छोटी हो या वड़ी, जड़ हो या चेतन, अपनी हो या पराई, जो भी हो, उस मे आसक्त हो जाना, उसमे वध जाना, उसके पीछे पड़कर विवेक खो बैठना "परिग्रह" कहा गया है। परिग्रह की वास्तविक परिभाषा मूर्च्छा है। अत पास मे कोई वस्तु हो या न हो परन्तु यदि तत्सम्वन्धी मूर्च्छा है तो वह सब परिग्रह ही माना जाता है। मूर्च्छा न होने पर एक चक्रवर्ती सम्राट् भी अपरिग्रही कहा जा सकता हे और मूर्च्छा होने पर एक सामान्य भिखारी भी परिग्रही ही समझना चाहिए इसीलिए। आचार्य शयभव दशवैकालिक सूत्र में कहते है—

ज पि वत्थं व पाव वा, केवलं पायपुछण ।
त पि सजम-लज्जट्ठा, धारति परिहरन्ति य ॥

—अ० ६-२०

अर्थात् - परिग्रह से रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुए रखते है, वे एक मात्र सयम की रक्षा के लिए रखते है, तथा अनासक्ति भाव से वे उन का प्रयोग करते है।

न सो परिग्गहो वुत्तो नायुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा ॥

—अ० ६-२१

अर्थात—प्राणिमात्र के रक्षक भगवान महावीर ने अनासक्ति-भाव से वस्त्रादि रखने मे परिग्रह नही बतलाया है। भगवान के मतानुसार किसी वस्तु पर मूर्च्छा, ममत्व या आसक्ति का होना ही वास्तव मे परिग्रह होता है।

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, सरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणोऽवि देहम्मि, नायरन्ति ममाइय ॥

—अ० ६-२२

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष सयम के सहायभूत वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो को केवल सयम की रक्षा के विचार से ही अपने उपयोग मे लाते है, या रखते है। उनमे उन का मूर्च्छाभाव नही होता है। पात्र आदि की तो बात ही क्या है, वे तो अपने शरीर पर भी ममत्त्व-भाव नही रखते है। इसीलिए वे अपरिग्रही कहे जाते है।

आचार्यदेव श्री शयभव के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति का नाम है। जहा-जहां आसक्ति-भाव है, वहा-वहा परिग्रह जन्म लेता चला जाता

है । आसक्ति की समाप्ति होने पर परिग्रह भी समाप्त होता चला जाता है। "ज्ञानसार" मे लिखा है कि ममताहीन, विरक्त और अलिप्त पुरुषो के लिए तो तीनो लोको का ऐश्वर्य भी अपरिग्रह ही है। मूर्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रह ।

यह सत्य है कि आसक्ति-भाव का नाम परिग्रह है और इसी आशय को लेकर जैनशास्त्रो मे प्राय. परिग्रह शब्द का व्यवहार मिलता है, किन्तु शास्त्रो मे धन, सम्पत्ति आदि वस्तुओं को भी परिगह कहा गया है। क्योकि ये सव पदार्थ आसक्ति का कारण वनते हैं। मूर्च्छा का कारण होने से इन को भी परिग्रह की सज्ञा दी जा सकती है और दी भी जाती है। अन्न प्राणो को कायम रखने का कारण होता है, वह प्राणस्वरूप नही होता, तथापि कारण मे कार्य का उपचार करके जैसे "अन्न वै प्राणा." यह कह दिया जाता है, वैसे ही धन, सम्पत्ति आदि भी परिगह कहलाते है। भले ही वे स्वय परिग्रहस्वरूप नही है तथापि उस का कारण होने पर उन्हे भी परिग्रह कहा जाता है। हरिभद्रीयावश्यक मे इस परिग्रह के नौ भेद पाए जाते हैं। वे इस प्रकार है—

१ क्षेत्र—धान्य उत्पन्न करने की भूमि को क्षेत्र कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—सेतु और केतु। अरहट, नहर, कूआ आदि कृत्रिम उपायो से सींची जाने वाली भूमि को सेतु और केवल वरसात से सींची जाने वाली भूमि को केतु कहते हैं।

२. वास्तु—प्राचीनकाल मे घर को वास्तु कहा जाता था। यह तीन प्रकार का होता है—(१) खात—तलघर या भूमिगृह, (२) उच्छ्रित—नींव खोद कर भूमि से ऊपर बना हुआ भवन,

(३) खातोच्छ्रित- भूमिगृह के ऊपर बनाया हुआ भवन ।

३ हिरण्य—सिल या आभूषण के रूप मे परिवर्तित चादी अर्थात् घडी हुई या बिना घडी हुई चादी ।

४ सुवर्ण—घडा हुआ या विना घडा हुआ सोना । हीरा, माणिक, मोती आदि जवाहरात का भी इसी मे ग्रहण हो जाता है ।

५. धन—गुड़, शक्कर, खाण्ड आदि ।

६ धान्य—चावल, मूंग, गेहूं, चने, मोठ, वाजरा आदि ।

७. द्विपद—दास, दासी, मोर, हस आदि ।

८ चतुष्पद—हाथी, घोड़े, गाय, भैंस आदि ।

९ कुप्य—ताम्बा, पीतल आदि धातु या सोने, बैठने, खाने, पीने आदि के काम मे आने वाली धातु की बनी हुई वस्तुए तथा उक्त कामो मे आने वाली बिना धातु की दूसरी वस्तुए ।

परिग्रह के बाह्य और अभ्यन्तर ये दो रूप होते है । उक्त नवविध परिग्रह बाह्यपरिग्रह के अन्तर्गत होता है । अभ्यन्तर परिग्रह जो कि वास्तव मे परिग्रहस्वरूप है, १४ प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१ हास्य—जिस के उदय से जीव मे हसी आवे ।

२ रति—जिस के उदय से सासारिक पदार्थों मे रुचि हो ।

३ अरति—जिस के उदय से धार्मिक कार्यों मे जीव की अरुचि हो ।

४ भय—विपद् या अनिष्ट की सभावना से उत्पन्न दु ख-जनक भाव ।

५ शोक—जिस के उदय से शोक, चिन्ता, रुदन आदि हो ।

६ जुगुप्सा—जिस के उदय से पदार्थों पर घृणा उत्पन्न हो ।

७ क्रोध—किसी अनुचित कर्म, अपकार आदि से उत्पन्न दूसरे का अपकार करने का तीव्र मनोविकार ।

८. मान—घमण्ड, अहकार, अभिमान ।

९ माया—छल, कपट, सरलता का अभाव ।

१० लोभ-लालच, तृष्णा या गृद्धि ।

११. स्त्रीवेद—जिस के उदय से स्त्री को पुरुषरमण की इच्छा उत्पन्न होती है ।

१२. पुरुषवेद—जिस के उदय से पुरुष को स्त्रीरमण की इच्छा उत्पन्न होती हे ।

१३. नपुसकवेद—जिस के उदय से नपुसक को स्त्री और पुरुष दोनो की इच्छा होती है ।

१४ मिथ्यात्व—मोहवश अयथार्थ मे यथार्थ बुद्धि और यथार्थ मे अयथार्थ बुद्धि का होना ।

एक आचार्य परिग्रह की व्याख्या करते हुए कहते है—

"परि समन्तात् मोहबुद्ध्या गृह्यते स परिग्रह."

अर्थात्—मोहबुद्धि के द्वारा जिसे चारो ओर से ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है । परिग्रह के तीन भेद होते हैं—इच्छा, सग्रह और मूर्छा । अनधिकृत साधन सामग्री को पाने की इच्छा करने का नाम इच्छारूप परिग्रह है । वर्तमान मे मिलती हुई वस्तु को ग्रहण कर लेना सग्रहरूप परिग्रह कहा गया है और सगृहीत वस्तु पर ममत्व-भाव और आसक्तिभाव मूर्च्छारूप परिग्रह कहलाता है ।

अपरिग्रह का अर्थ—

परिग्रह के अभाव को अपरिग्रह कहते हैं । परिग्रह शब्द के सम्बन्ध मे ऊपर की पक्तियो मे लिखा जा चुका है । परिग्रह

के स्वरूप का अवबोध प्राप्त कर लेने के अनन्तर अपरिग्रह के स्वरूप का ज्ञान स्वत ही प्राप्त हो जाता है। परिग्रह आसक्ति का नाम है तो अनासक्ति भाव अपरिग्रह है। अभ्यन्तर और वाह्य परिग्रह का परित्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। एक आचार्य ने अपरिग्रह के तीन रूप बतलाए है। वे इस प्रकार है—

१—इच्छा को सीमित करना।

२—इच्छा परिमित होते हुए भी अन्याय और अनीति से धन, धान्य आदि पदार्थों का सग्रह न करना।

३—न्याय नीति से उपार्जित सम्पत्ति को प्रवचन की प्रभावना के लिए लगाना। राजा प्रदेशी की तरह अरमणीक से रमणीक बनने के लिए अपनी आमदनी का चोथा-चौथा हिस्सा दान के लिए यथाशवित निकालना।

अपरिग्रह की महिमा महान है। यह शान्ति का अखण्ड स्रोत है। परिग्रह या तृष्णा नामक रोग से मुक्ति पाने के लिए अपरिग्रह से बढ कर कोई औषध नही है। अपरिग्रह के सेवन से ऐहिक कामनाओ और वासनाओ के समस्त भीषण कीटाणु मनुष्य का पिण्ड छोड देते हैं और उन से उन्मुक्त (रहित) मनुष्य सदा के लिए आनन्द और शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अपरिग्रह-सन्तोष या अनासक्ति भाव ही पुरुष का सब से बडा खजाना है। इस को पाकर भिखारी भी शाहो का पूज्य बन जाता है। अपरिग्रह की भावना अमृत के समान है, जिस मनुष्य ने इस का पान कर लिया है, वह यदि गृहस्थ भी है तो भी वह स्वर्गीय सुखो को प्राप्त कर लेता है। ससार की समस्त शक्तिया उस के चरणो मे लोटपोट हो जाती है।

आध्यात्मिक साधना मे अपरिग्रह का बड़ा ऊचा स्थान है। अपरिग्रह को छोड कर सभी साधनाए अपूर्ण रहती है। सयम और साधना के पथ पर चलने वाले साधु और श्रावक दोनों ही ससम्मान इस का आसेवन करते हैं । साधु इसे महाव्रत के रूप में देखता है और श्रावक इसे अणुव्रत के रूप मे अपनाता है। दोनो को अपनी-अपनी शक्ति लगाकर इस की अर्चना में तन्मय होना पडता है । तभी जाकर इन की अध्यात्म साधना सफल होती है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच व्रत माने गए है। इन्हे महाव्रत और अणुव्रत भी कहा जाता है। जब इन का आशिक पालन होता है, तब इन की अणुव्रत और जब इन का पूर्णतया पालन किया जाता है, तव इन की महाव्रत सज्ञा होती है। इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत भी है और अणुव्रत भी। जब इसे साधु अपनाता है तो यह महाव्रत का रूप ले लेता है और जब गृहस्थ इस को धारण करता है तब इस को अणुव्रत कहा जाता है।

साधु कचन, कामिनी का सर्वथा त्यागी होता है। धन, धान्य आदि परिग्रहो मे से किसी भी परिग्रह से उस का सम्वन्ध नही होता है । वह उक्त सव परिग्रहो का मन, वचन और शरीर से न स्वयं सग्रह करता है, न दूसरो से करवाता है और न करने वालो का अनुमोदन ही करता है। वह पूर्णस्वरूप से से असंग, अनासक्त, अकिंचन वृत्ति का धारक होता है। कौडी, पैसा रूप परिग्रह भी उस के लिए विप के समान हेय एव त्याज्य होता है और तो क्या, वह अपने शरीर पर भी ममत्व-भाव नही रख सकता। वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पुस्तके आदि

जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखता है, वह सव सयम का सुचारु रूप से पालन करने के निमित्त ही रखता है, उस मे उस का जरा भी ममत्व नही होता। ममत्वबुद्धि से रखा गया उपकरण जैनसाधु की दृष्टि मे उपकरण न रह कर अधिकरण हो जाता है, अनर्थ का मूल वन जाता है। अत. जैनसाधु वस्तु छोटी हो या वडी, चेतन हो या जड, अपनी हो या पराई, किसी मे भी आसक्ति नही रखता। सर्वथा अनासक्त भाव से रहता है। जैनसाधु जहा धन, धान्य आदि वाह्य परिग्रह का परित्याग कर देता है, वहा वह हास्य,रति आदि जो १४ अभ्यन्तर परिग्रह वतलाए हैं,उन का परित्याग करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। साधक की प्रगति मे परिग्रह सव से वडा प्रतिवन्धक है, साधु अपनी सयम-साधना मे उसे तीक्ष्णकण्टक समझता है। अत. जहा भी इसे यह दृष्टिगोचर होता है, वही से इस को यह निकालने मे जुट जाता है। परिगह की गाठ को तोड देने के कारण ही जैनसाधु निर्ग्रन्थ कहलाता है।

साधु की अपेक्षा गृहस्थ का अपरिग्रहव्रत अणु होता है। गृहस्थ से धन. धान्य आदि का पूर्ण त्याग नही हो सकता। गृहस्थ ससार मे रहता है, अत उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है। उसे अपने विरोधी प्रतिद्वन्द्वी लोगो से सघर्ष करना पडता है, जीवन-यात्रा के लिए कुछ न कुछ पापमय मार्ग अपनाना होता है, परिग्रह का जाल वुनना होता है, न्यायमार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थो के लिए कही न कही किसी से टकराना पड़ जाता है। अत गृहस्थ अपरिग्रहव्रत की पूर्णतया आराधना करने मे सफल नही हो सकता। गृहस्थ की इस विवशता को ही ध्यान मे

रखकर भगवान महावीर ने उस के लिए अपरिग्रह-अणुव्रत का आविष्कार किया है। यह सत्य है कि गृहस्थ, धन, धान्य आदि परिग्रह का सर्वथा परित्याग नही कर सकता तथापि वह इस अणुव्रत द्वारा लोभ-वृत्ति पर अकुश अवश्य रख सकता है।

लोभ को पापो का मूल और आध्यात्मिकता का नाशक कहा गया है। "योगसार" के मतानुसार लोभ अनिष्ट प्रवृत्तियो का मूलस्थान है, लोभ ही आपत्तियो का केन्द्रस्थान है—लोभो व्यसनमन्दिरम्। लोभ से ही धार्मिक प्रवृत्तियो का नाश हुआ करता है-लोभाद्धर्मो विनश्यति (महाभारत शान्तिपर्व)।*हितोपदेश मे लिखा है कि समय के अनुसार सभी वस्तुए जीर्ण-शीर्ण और नष्ट हो जाया करती हैं, परन्तु धनसग्रह करने की आशा और जीवित रहने की इच्छा ज्यो-ज्यो समय जाता है त्यो-त्यो नित्य नवीन और तरुण होती रहती है। इस प्रकार तृष्णा-लालसा कभी वृद्ध नही हुआ करती है। योग शास्त्र मे आचार्य हेमचन्द्र कहते है—

"आशैव जीर्णमदिरा"

अर्थात्—जैसे मदिरा, शराव, ज्यो-ज्यो पुराना पडता है, त्यो-त्यो अधिकाधिक नशा लाने वाला वनता है, वैसे ही यह आशा-तृष्णा भी ज्यो-ज्यो चित्त मे अधिकाधिक घर करती चली जाती है, वैसे ही अधिकाधिक घवराहट से परिपूर्ण अशान्ति पैदा करती रहती है। इस लोभ और लालच के विपादान्त परिणाम के सम्वन्ध मे जितना भी कुछ कहा जाए उतना ही थोडा है। अत. आनन्दाभिलाशी गृहस्थ को इस लोभवृत्ति पर

---

*धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।

तो अकुश रखना ही होगा। ऐसा किए विना जीवन मे शान्ति के दर्शन नही हो सकते है। लोभवृत्ति पर अकुश रखने का सर्वोत्तम ढग यह है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह धन, धान्य, सोना, चादी, घर, खेत आदि जितने भी पदार्थ है, अपनी आवश्यकता के अनुसार उन की निश्चित मर्यादा कर ले। एक लाख से अधिक धन नही रखूगा, चार मकानो तथा दो दुकानो से ज्यादा मकान और दुकाने नही वनाऊगा। इस प्रकार उसे अन्य सभी पदार्थों की सख्या निर्धारित करके अपनी अमर्यादित इच्छाओ को मर्यादित कर लेना चाहिए। आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है, इस से मानव की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर दूषित होती चली जाती है। ऐसा समझ कर इच्छाओ के वह रहे नद पर सन्तोष का वाध लगा लेना चाहिए। व्यापार आदि में यदि निश्चित मर्यादा से कुछ अधिक धन प्राप्त हो तो गृहस्थ को उसे परोपकार आदि सत्कार्यो मे लगा देना चाहिए। अपनी निश्चित की गई मर्यादा को कभी भी भग नही करना चाहिए। इसी मे गृहस्थ का हित निहित है।

आगे वढना ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है, परन्तु आगे वढने के लिए चित्त की शान्ति सर्वप्रथम अपेक्षित होती है। चित्त की शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है—इच्छाओ का सकोच, परिग्रह की मर्यादा। जव तक कामनाओ का कण्ठ नही मरोड़ा जाता और इच्छाओ को सीमित नही किया जाता, तव तक जीवन में कभी सुख-शान्ति के दर्शन नही हो सकते। इच्छाओ के सकोच और परिग्रह की मर्यादा के लिए ही भगवान महावीर ने गृहस्थो को अपरिग्रहवाद के आश्रयण पर ज़ोर दिया है। अपरिग्रहवाद कहता है कि मनुष्य को उपभोग्य और परिभोग्य

सभी वस्तुओ की मर्यादा कर लेनी चाहिए, उन की सीमा बाध लेनी चाहिए।

परिग्रह की मर्यादा—

परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) कर लेने से इच्छाओं का दमन होता है। तृष्णा के असीम गगन मे मनविहग जो उडारिया ले रहा है, वह नियन्त्रित हो जाता है। मन के नियन्त्रित हो जाने पर, जीवन मे शान्ति का सचार होता है। इस के विपरीत, मन यदि अनियन्त्रित है, आशाओ का दास बना हुआ है, कामनाओ के भूले पर भूल रहा है, दिनरात धन बटोरने का ही स्वप्न ले रहा है, धन को एकत्रित करने के लिए उसे यदि अन्याय-अनीति के कुपथ पर चलना पड़े तो उस पर चलने मे वह जरा भी सकोच नही करता है, तो ऐसा मन सदा के लिए दु खमय बन जाता है। दु खो तथा क्लेशो का दानव उसपर बुरी तरह अपना शासन जमा लेता है। वस्तुत ऐहिक कामना, लोभ-लालच आदि विकार दु खो को अपने साथ लेकर चलते है। इन मे पारस्परिक शरीर और छाया का सा सम्बन्ध रहता है। इस सत्य से कभी इन्कार नही किया जा सकता है कि वासनाओ का दास व्यक्ति स्वय भी दु खी होता है, जिस परिवार मे रहता है, उसे दु खी करता है, जिस समाज का वह सदस्य है उसे परेशान करता है, उस के सगठन को छिन्न-भिन्न कर देता है और जिस राष्ट्र में बसता है उस के उज्ज्वल भविष्य को भी आग लगा देता है। ऐसा स्वार्थी जीवन अनर्थो का जीवित प्रतीक बन बैठता है। मक्कार दुर्योधन को कौन नही जानता है ? शान्तिप्रिय त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण ने शान्तिदूत बन कर उसे कितनी बार समझाया था, पर उस ने एक न मानी ? उस ने तो यहा तक कह दिया था कि तीक्ष्ण सूई के अग्रभाग के समान

भूभाग भी मै पाण्डवो को नही दे सकता। महाभारत का भयकर युद्ध दुर्योधन के ही स्वार्थप्रिय मानस का दुष्परिणाम था। अभिमन्यु जैसे अर्जुन के वीर पुत्र इसी की स्वार्थलालसा का शिकार बन गये थे। स्वार्थान्ध जीवन के विषादान्त वृत्तो का कहा तक वर्णन किया जाए? भगवान महावीर इस सत्य को खूब समझते थे, स्वार्थप्रियता तथा परिग्रहवृत्ति के दुष्परिणामो का उन्हे भलीभाति बोध था, इसीलिए उन्होने ससार को अपरिग्रहवाद का पवित्र सन्देश दिया और मनुष्य को अपनी इच्छाओ को परिमित और मर्यादित कर लेने के लिए जोरदार शब्दो मे प्रेरणा प्रदान की।

अपरिग्रहवाद कहता है कि सुखप्रिय तथा सहृदय मानव को अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए अपने स्वार्थ पर नियन्त्रण कर लेना चाहिए। कामनाओ के बह रहे असीम नद को सन्तोष के बाध से बाध कर ससीम बना देना चाहिए। सोने चादी की मर्यादा बाध लेनी चाहिए कि मैं अमुक धनराशि से अधिक धन अपने अधिकार मे नही रखूगा। यदि मर्यादा से अधिक धन हो गया तो उसे परोपकार आदि सत्कार्यों मे लगा डालूगा। ऐसा करने से मनुष्य के पास अनावश्यक धनसग्रह नही हो सकेगा और आवश्यकतानुसार धन उस के पास रहने से उसे कोई कष्ट भी नही होगा। साथ ही साथ वह बहुत सी व्यर्थ की हाय-हाय करने से भी बच जायगा और अपना जीवन सुख तथा सन्तोष के साथ व्यतीत कर सकेगा। यही जीवन-निर्माण तथा जीवनकल्याण का सर्वोत्कृष्ट राजपथ है। इसी पथ पर चलकर अतीत मे ससार के अनेकानेक लोगो ने शान्ति-लाभ प्राप्त किया है और वर्तमान मे कर रहे है।

२६ बोल—

उपभोग *और परिभोग मे आने वाली वस्तुए तो अनेकानेक है। तथापि मनीषी लोगो ने उन वस्तुओ का २६ बोलो मे संग्रह कर दिया है। इन बोलो मे प्राय जीवनोपयोगी आवश्यक सभी वस्तुओं को सगृहीत कर लिया गया है। इन बोलो की जानकारी से परिग्रह की मर्यादा करने वाले व्यक्ति को बड़ी सुगमता हो जाती है। वह जब यह जान लेता है कि जीवन को चलाने के लिए विशेषरूप से किन पदार्थो की आवश्यकता होती है ? तब उन की तालिका बना कर उन्हे मर्यादित करना उस के लिए सरल हो जाता है। वे २६ बोल इस प्रकार है—

१. उल्लणिया-विधिप्रमाण—आर्द्र शरीर को या किसी भी आर्द्र शरीरावयव को पोछने के लिए जिन वस्त्रो की आवश्यकता होती है, उन की मर्यादा करना।

२ दन्तवणविधिप्रमाण - दान्तों को साफ करने के लिए जिन पदार्थो की आवश्यकता होती है, उन पदार्थो की मर्यादा करना।

३ फलविधिप्रमाण—दातुन करने के अनन्तर मस्तक या बालो को स्वच्छ तथा शीतल करने के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती है, उन की मर्यादा करना या बाल आदि धोने के लिए आवला आदि फलो की मर्यादा करना।

४ अभ्यञ्जनविधिप्रमाण—त्वचासम्बन्धी विकारो को

---

*एक वार प्रयोग मे लाए जाने वाले पानी आदि पदार्थो का सेवन उपभोग और अनेक वार प्रयोग मे आने वाने वाले वस्त्र, पात्र आदि पदार्थो का उपभोग परिभोग कहलाता है।

दूर करने के लिए या रक्त को सभी अवयवो मे सचारित करने के लिए जिन तैल आदि द्रव्यो का शरीर पर मर्दन किया जाता है, उन की मर्यादा करना ।

५ उद्वर्तनविधिप्रमाण—शरीर पर लगे हुए तैल की चिकनाहट को दूर करने के लिए तथा शरीर मे स्फूर्ति, शक्ति लाने के लिए जो उबटन लगाया जाता है, उस की मर्यादा करना ।

६ मज्जनविधिप्रमाण—स्नान के लिए जल तथा स्नान की सख्या का परिमाण करना ।

७. वस्त्रविधिप्रमाण—पहनने, ओढने आदि के लिए वस्त्रो की मर्यादा करना ।

८ विलेपनविधिप्रमाण—चन्दन, केसर आदि सुगन्धित तथा शोभोत्पादक पदार्थों की मर्यादा करना ।

९ पुष्पविधिप्रमाण—फूल तथा फूलमाला आदि का परिमाण करना । मै अमुक वृक्ष के इतने फूलो के सिवाय दूसरे फूलो को तथा वे भी अधिक मात्रा मे प्रयुक्त नही करूगा, ऐसा विकल्पपूर्वक पुष्पसम्बन्धी परिमाण निश्चित करना ।

१० आभरणविधिप्रमाण—शरीर पर धारण किए जाने वाले आभूषणो की मर्यादा करना कि इतने मूल्य या भार के अमुक आभूपण के सिवाय शेप आभूपण शरीर पर धारण, नही करूगा ।

११ धूपविधिप्रमाण—वस्त्र और शरीर को सुगन्धित करने के लिए या वायु-शुद्धि के लिए धूप देने योग्य धूप आदि पदार्थो की मर्यादा करना ।

१२ पेयविधिप्रमाण—जो पीया जाता है, उसे पेय कहते

है। ऐसे पानी,शरबत आदि पेय पदार्थों की मर्यादा करना।

१३. भक्षणविधिप्रमाण—नाश्ते के रूप मे खाए जाने वाले मिठाई आदि पदार्थों की अथवा पकवान की मर्यादा करना।

१४. ओदनविधिप्रमाण—यहां ओदन शब्द से उन द्रव्यो का ग्रहण करना इष्ट है, जो विधिपूर्वक उबाल कर खाए जाते है। जैसे चावल, खिचड़ी आदि, इन की मर्यादा करना।

१५ सूपविधिप्रमाण—सूप शब्द से मूग, चना आदि सभी दालो का वोध होता है। मूग, चने आदि की दालों की मर्यादा करना।

१६. विकृतिविधिप्रमाण—विकृति शब्द दूध, दही, घृत, तैल, गुड, शक्कर आदि का परिचायक है। इन सब की मर्यादा करना।

१७ शाकविधिप्रमाण—शाक,सब्जी आदि शाक की जाति का परिमाण करना। ऊपर के पन्द्रहवे वोल मे उन दालो का ग्रहण है, जो अन्न से वनती हैं। शेष सूखे या हरे साग का ग्रहण शाकपद से होता है।

१८ मधुरविधिप्रमाण—आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, वादाम, और पिश्ता आदि सूखे फलो की मर्यादा करना।

१९. जेमनविधिप्रमाण—जेमन शब्द रोटी, पूरी आदि क्षुधा-निवारक पदार्थों का वोधक है या वडा, पकौड़ी आदि का बोधक है। इन सब पदार्थों की मर्यादा करना।

२०. पानीयविधिप्रमाण—शीतोदक, उष्णोदक, गन्धोदक या खारा पानी, मीठा पानी आदि पानी के अनेकों भेद हैं, इन

सब की मर्यादा करना ।

२१. मुखवासविधिप्रमाण—भोजनादि के पश्चात् स्वाद या मुख को साफ करने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि पदार्थों की मर्यादा करना ।

२२ वाहनविधिप्रमाण—घोडा, ऊट आदि चलने वाले और मोटर, ट्रेण, साईकल आदि फिरने वाले वाहनो की मर्यादा करना ।

२३ उपानद्विधिप्रमाण—जूता, बूट, खडाऊ आदि की मर्यादा करना ।

२४ शयनविधिप्रमाण—पलग, खाट, पाट, आसन, बिछौना, मेज़, कुर्सी आदि सोने और बैठने के काम मे आने वाले पदार्थों की मर्यादा करना ।

२५ सचित्तविधिप्रमाण—पदार्थ सचित्त और अचित्त इस तरह दो प्रकार के होते हैं । सचित्त पदार्थों की मर्यादा करना । सचित्त फलो का सर्वथा त्याग नही कर सकने वाला गृहस्थ सचित्त पदार्थों की मर्यादा करता है ।

२६ द्रव्यविधिप्रमाण--खाने के काम मे आने वाले सचित्त या अचित्त द्रव्यो की मर्यादा करना । ऊपर के बोलो मे जिन पदार्थों की मर्यादा की गई है, उन पदार्थों को द्रव्यरूप से सग्रह करके उन की मर्यादा करना । जैसे मैं एक समय मे या एक दिन मे या जीवन भर इतने द्रव्यो से अधिक द्रव्योका उपयोग नही करूगा । एक ही वस्तु जो मुख मे डाली जायगी उस मे जितनी वस्तुए मिश्रित हो रही है वे उतने ही द्रव्य कहे जाएगे ।

इन २६ बोलो मे दैनिक व्यवहार मे आने वाले सभी जीवनोपयोगी पदार्थों का ग्रहण कर लिया गया है । इन की दैनिक,

साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक या साम्वत्सरिक मर्यादा कर लेने से गृहस्थ अपरिग्रहवाद को जीवनांगी बना सकता है। आत्मोत्थान तथा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय शान्ति के लिए अपरिग्रहवाद के आश्रयण से वढ कर अन्य कोई मार्ग नही है। जैसे पाल के विना तालाव मे कितना भी पानी आ जाए फिर भी वह भरता नही है, इसी प्रकार तृष्णातुर मनुष्य को कितना ही द्रव्य क्यो न मिल जाए, पर उसे कुछ शान्ति प्राप्त नही होने पाती। शान्ति की प्राप्ति तो तृष्णा के परित्याग से और सन्तोष के आश्रयण से ही हो सकती है। अपरिग्रहवाद इसी सत्य को लेकर अध्यात्म जगत के सामने उपस्थित होता है। एक आचार्य अपरिग्रहवाद की महत्ता को लेकर कितनी सुन्दर वात कहते है—

जह-जह अप्पो लोहो, जह जह अप्पो परिग्गहारंभो।
तह तह सुहं पवड्ढइ, धम्मस्स य होइ ससिद्धी ॥

अर्थात्—जैसे जैसे लोभ कम होता है और ज्यों ज्यो आरभ परिग्रह घटता चला जाता है, त्यो-त्यो सुख की वृद्धि होती चली जातो है और धर्म को सिद्धि होती चली जाती है।

नव बोल—

ऊपर २६ वोलो का निर्देश किया गया है, इन बोलो के प्रकाश मे मनुप्य परिग्रह की मर्यादा सुगमता से कर सकता है। इसके अलावा, आदरणीय जैनाचार्यो ने परिग्रह की मर्यादा के ९ प्रकार और वताए हैं। वे भी मननीय, चिन्तनीय और आचरणीय होने से आदरणीय है। उन का विवरण इस प्रकार है—

१ क्षेत्रयथाप्रमाण—क्षेत्र की मर्यादा करना। क्षेत्र के खेत,

बाग, वाड़ी, वन आदि अनेको भेद होते है। जहा धान्य की उत्पत्ति हो वह खेत है। जहा मेवा, फल, फूल आदि की उत्पत्ति हो उसे बाग कहते है । शाक, सब्जी, भाजी आदि के उत्पत्ति-स्थान को बाडी और जहा सामान्यरूप से घास, घने वृक्ष आदि हो उसे वन कहा जाता है। गृहस्थ क्षेत्र का सर्वथा त्याग नही कर सकता है, अत उसे ममत्व भाव को कम करने के लिए क्षेत्र की मर्यादा कर लेनी चाहिए, और परिमाण कर लेना चाहिए कि मैं इतने लम्बे-चौडे क्षेत्र से अधिक क्षेत्र (स्थान) अपने अधिकार मे नही रखूगा।

२—वास्तुयथापरिमाण—घर, हवेली, महल, प्रासाद, दुकान, गोदाम, भोयरा, बगला, झोपडी इन सबकी मर्यादा करना। एक मजिल वाला मकान घर कहलाता है, दो या दो से अधिक मज़िल वाला मकान हवेली या महल कहा जाता है। जो शिखर-बन्द हो, उसे प्रासाद कहा गया है । व्यापार करने की जगह दुकान, माल रखने की जगह को गोदाम, जमीन के अन्दर बने घर को भोयरा, बाग, बगीचे मे बने घर को बगला और घास-फूस से बने घर को कुटी या झोपडी कहते है । इन मे से जिस की जितनी सख्या मे आवश्यकता हो उसे रखकर शेष का परित्याग कर देना चाहिए।

३-४-हिरण्य-सुवर्ण-यथापरिमाण—हिरण्य चादी का नाम है और सुवर्ण सोने को कहते है। चादी और सोने की तथा इन के आभूषणो की मर्यादा करना। जहा तक पुराने आभूषणो से काम चलता हो तो चलाना चाहिए, क्योकि नए आभूषणो के बनवाने मे अग्नि-काय आदि का आरभ और ममत्व का

पोषण होता है । यदि आभूषण बनवाने ही पड़े तो इन का परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए ।

५-धनयथापरिमाण—नक़द रुपए पैसे का परिमाण(मर्यादा) करना । धन शब्द द्वारा पाई से लेकर रुपये तक और हीरा, माणिक, मोती, जवाहिरात आदि सब खनिज धन का ग्रहण हो जाता है । धन की मर्यादा बाध कर शेष धन का परित्याग कर देना चाहिए ।

यहा पर प्रश्न हो सकता है कि एक व्यक्ति के पास जब सौ रुपया भी नही है तो यदि वह एक लाख की मर्यादा करले, और कहे कि इस से अधिक हो गया तो उस का परित्याग कर दूगा, तो इस त्याग से क्या आत्मोत्थान होने वाला है ? इस का समाधान करते हुए जैनाचार्य कहते है कि पुरुष का भाग्य बडा विचित्र होता है, उसे मनुष्य तो क्या देवता भी नही जान सकता । गाए और बकरीया चराने वाले ग्वाले भी राजा, महाराजा बन जाते है । जिस निर्धन ने एक लाख की मर्यादा की है, क्या पता है, उसका भाग्य चमक उठे, और वह लाखो का स्वामी बन जाए । यदि उस ने परिग्रह की मर्यादा कर रखी होगी तो वह धन की अधिक प्राप्ति के समय सतोष धारण करके अपनी मर्यादा मे ही रहेगा, उस से अधिक धन ग्रहण नही करेगा । वह और अधिक परिग्रह नही बढाएगा । तब ममत्व-जनित उस पाप से उस की आत्मा बच जाएगी । अत निर्धन अवस्था मे भी मनुष्य को परिग्रह की मर्यादा अवश्य कर लेनी चाहिए ।

६-धान्य-यथापरिमाण—धान्य अनाज को कहते है । चावल, गेहू आदि २४ प्रकार का धान्य होता है । धान्य शब्द

द्वारा धान्य के समान खसखस आदि और मेवा, मिठाई, घृत, गुड, शक्कर, नमक तेल आदि सभी वस्तुओ का ग्रहण होता है। इनकी जितनी आवश्यकता हो उतना परिमाण करके शेष का परित्याग कर देना चाहिए। इन वस्तुओ को अधिक समय तक रखने से इन मे त्रस जीवो की उत्पत्ति हो जाती है। अत इन के रखने के समय की मर्यादा करना आवश्यक है। धान्य के व्यापारी को भी धान्य के वजन का तथा रखने के समय का परिमाण बाध लेना चाहिए।

७-द्विपद-यथापरिमाण—दो पैर वाले प्राणियो का परिमाण करना। दास,दासी,नौकर, चाकर आदि द्विपद परिग्रह मे सगृहीत हो जाते है। प्रथम तो नौकर रखने का स्वभाव नही बनाना चाहिए। क्योकि अपने हाथ से काम करने मे जो यतना (विवेक) हो सकती है, वह नौकरो द्वारा नही कराई जा सकती। यदि नौकरो के बिना काम न चले तो स्वधर्मी नौकर को सर्वप्रथम अवसर देना चाहिए, यदि विधर्मी रखना ही पडे तो उसे स्वधर्मी बनाने का यत्न करना चाहिए ओर उस की मर्यादा अवश्य कर लेनी चाहिए।

८-चतुष्पद-यथापरिमाण—चौपाये पशुओ का इच्छित परिमाण करना। गाय, भैस, घोडा, हाथी आदि पशुओ का आवश्यकता से अधिक सग्रह करना उचित नही है। इस से ममत्व बढता है, और उन के निमित्त अनेको सावद्य कार्य करने पड़ते है। अत इच्छाओ को सीमित करने के लिए पशुधन को भी सीमित कर लेना चाहिए। यहा उन पशुओ का परिमाण इष्ट है, जिन को स्वार्थवश पाला जाता है। किन्तु असहाय और अनाथ पशुओ की नि स्वार्थ सुरक्षा की यहा

कोई मर्यादा नही है। सेवा की भावना से तो शक्त्यनुसार कितने भी पशु रखे जा सकते हैं।

९-कुप्य-यथापरिमाण—घर गृहस्थी के फुटकल सामान का परिमाण करना। घर गृहस्थी के काम मे आने वाले जितने भी साधन हैं, उन सब की मर्यादा कर लेनी चाहिए। ममता जितनी कम होगी, उतनी ही जीवन मे शान्ति रह सकेगी। कहा भी है—जितनी सम्पत्ति, उतनी विपत्ति। घर मे जितना अधिक सामान पडा रहता है, उस मे से काम में तो थोड़ा ही आता है, शेप की तो केवल सार-सभाल ही करनी पड़ती है। अधिक सामान होने से स्थावर और त्रस सभी जीवो की हिसा होती रहती है। इस के अलावा, अधिक सामान उन लोगो को दे दिया जाए, जो लोग उस से वञ्चित हैं, और उसके विना जो कष्ट अनुभव कर रहे हैं, तो उन को शान्ति मिल सकती है। अतः आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संग्रह करना किसी भी दृष्टि से हितावह नही है।

अपरिग्रहवाद का वड़ा व्यापक विपय है। उक्त पक्तियो मे अपरिग्रहवाद की जो व्याख्या की गई है,वह वहुत सक्षिप्त है,और उस को जीवन मे ले आने की पद्धति का जो निर्देश किया गया है, वह भी सूचनामात्र है। अपरिग्रह का सिद्धान्त तो इतना गंभीर और सूक्ष्म है कि कुछ कहते नही वनता। इस पर जितना भी लिखा जाए, कहा जाए उतना ही थोड़ा है। यहा तो केवल उस की झाकी उपस्थित की गई है। विशेष जानने के अभिलाषी पाठको को स्वतत्ररूपेण जेनागमो का अध्ययन करना चाहिए।

अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त शान्ति का अग्रदूत है। यह

पारिवारिक जीवन मे सामाजिक और राष्ट्रिय जीवन मे सुखशान्ति का सचार करता है,उसके समस्त दु खो का,क्लेशो का सदा के लिए नाश कर देता है। आज परिवारो मे जो असन्तोष, समाज मे क्षोभ, प्रान्तो मे विप्लव, राष्ट्र मे तूफान और विश्व मे जो युद्ध-ज्वाला दृष्टिगोचर हो रही है, उस का मूल कारण परिग्रह ही है। धन, धान्य आदि का अमर्यादित और अनियन्त्रित लोभ ही है। अत परिग्रह को नष्ट किए बिना और अपरिग्रह की प्रतिष्ठा किए बिना परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे शान्ति की स्थापना नही हो सकती।

अपरिग्रहवाद और साम्यवाद—

अपरिग्रहवाद और साम्यवाद का बडा निकट का सम्बन्ध है। अपरिग्रहवाद, शरीर-यात्रा के लिए जितना आवश्यक हो, उस से अधिक पैसा, अन्न आदि न लेने या न रखने, की बात कहता है, जबकि साम्यवाद का उद्देश्य ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना है, जिस मे सम्पत्ति पर समाज का समान अधिकार होता है, और व्यक्ति से शक्ति भर काम लेकर उस की सारी आवश्यकताए पूर्ण की जाती हैं। रूस ने ससार को साम्यवाद का जो सन्देश दिया है, या वह दे रहा है, जिस से सब मनुष्य आराम के साथ रोटी, कपडा और मकान प्राप्त कर सके, वह भगवान महावीर के इस अपरिग्रहवाद का ही रूपान्तर है। इस मे इतना अन्तर अवश्य है कि रूस का साम्यवाद हिंसा को साथ लेकर चलता है, और बलपूर्वक लोगो पर लादा जाता है किन्तु भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद मे हिंसा को कोई स्थान नही है, वहा तो अहिंसा, प्रेम और सहानुभूति का सर्वतोमुखी साम्राज्य है और यह किसी पर बलपूर्वक

लादा नही जाता है। विचारो मे परिवर्तन ला कर इस की प्रतिष्ठा की जाती है। रूस का साम्यवाद हिंसक क्रान्ति है और भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद अहिंसक। एक में हिंसा की प्रधानता है, जवकि दूसरे मे अहिंसा का पवित्र प्रवाह प्रवाहित हो रहा है।

अपरिग्रहवाद और साम्राज्यवाद--

अपरिग्रहवाद और साम्राज्यवाद का पारस्परिक कोई सम्बन्ध नही है। इन मे दिन रात का सा विरोध चलता है। अपरिग्रहवाद दैवी भावना का प्रतीक है, जवकि साम्राज्यवाद मे ऐसा नही है। अपरिग्रहवाद मनुष्य को धनलिप्सु न बना कर उसे विश्वप्रेम तथा "-आत्मवत् सर्व-भूतेषु-" का मंगलमय पाठ पढाता है, और साम्राज्यवाद मनुष्य मे एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को अधिकार मे लाकर उसे अपने हित का साधन वना लेने की भावना को जन्म देता है। जैसे राम और रावण, कृष्ण और कस एक सिहासन पर नही बैठ सकते है, वैसे अपरिग्रहवाद और साम्राज्यवाद भी एक स्थान पर एकत्रित नही हो सकते है।

अपरिग्रहवाद की उपयोगिता—

आज ससार मे जो आर्थिक विपमता चल रही है, सर्वत्र अशान्ति और दु ख का वातावरण वन रहा है। मनुष्य मनुष्य का सहायक और रक्षक होने के वदले भक्षक वना हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दवाने और हडपने की योजनाए वना रहा है। और ऐसा करने मे ही अपना कल्याण समझ रहा है। इसका मूल कारण मनुष्य का लोभ या संग्रहवृत्ति ही है, अपनी

तिजोरियो को मुह तक भरने की नीचभावना ही यहा काम कर रही है। यदि मनुष्य अपरिग्रहवाद को अपना कर इस सग्रहवृत्ति का परित्याग कर दे, अपनी आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुओ का सग्रह रखे और अनावश्यक सग्रह को समाज के उन दूसरे लोगो को सौप दे, जिन को उस की आवश्यकता है, तो आज दुनिया मे जितनी अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है, वह या तो धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगी या अपेक्षाकृत वहुत कम पड जायेगी। इसके अलावा, सम्पत्ति के वटवारे का जो प्रश्न ससार के सामने है, वह भी विना किसी कानून के स्वय ही वहुत कुछ अशो मे समाहित हो जायेगा।

कितना आश्चर्य और खेद का स्थान है कि एक ओर सम्पत्ति ट्रको मे पडी सड़ रही है और दूसरी ओर अग ढापने को कपडे की एक तार भी नसीव नही होती। एक ओर हज़ारो प्राणी भूख से विलविला रहे हैं और अन्न के अभाव मे तडप-तडप कर प्राण दे रहे है, और दूसरी ओर धनी व्यापारी अन्न का अनावश्यक सचय करके बैठे हुए हैं। एक ओर भोजन के पचाने के लिए चूर्णों का प्रयोग किया जाता है, अजीर्णता से लोग व्याकुल हैं और दूसरी ओर लोग पेट को बल देकर दिन विता रहे है,और जूठी पत्तले चाटकर जीवन का निर्वाह कर रहे है। इस प्रकार दिल दहलाने वाली विषमता सर्वत्र नग्न-नृत्य कर रही है। इसी विषमता के कारण आज परिवार, समाज और राष्ट्र का अन्त स्वास्थ्य दूषित हो रहा है। सर्वत्र अशान्ति और दु ख के चीत्कार सुनाई पडते है। सव राष्ट्र इन दु खो की इस आग पर शान्ति का पानी डालना चाहते है। इस के लिए नाना उपाय किए जा रहे है। कई

देश साम्यवाद का प्रचार और प्रसार करने की धुन मे है, कही पूजीवाद की दुहाई दी जा रही है। ख्याल किया जाता है कि इस उपाय से दु.खी समाज सुखी बन जायेगा किन्तु सत्यता तथा निर्लोभता किसी मे भी नही है। सभी अपने-अपने ढग से अपनो-अपनी तिजोरिया भरना चाहते है। और दूसरे देशो पर अपना अधिकार जमाने का या प्रभाव बढाने का स्वप्न ले रहे हैं। सब का एक ही नेता है और वह है---परिग्रह। परिग्रह की उपशान्ति परिग्रह के पोषण से नही हो सकती। आग मे ईन्धन डालकर उस को शान्त करने की बात सोचना जैसे अपने को धोखा देना होता है, वैसे ही परिग्रह की पूजा से शान्ति की स्थापना की कामना करना अपने को धोखा देना है। दु खो से और झझटो से बचने का एक ही उपाय है, और वह है- अपरिग्रहवाद की प्रतिष्ठा। यदि ससार अपरिग्रहवाद को अपना ले तो आज जितनी भी आर्थिक, विषमताए दृष्टिगोचर हो रही है, वे एक क्षण मे समाप्त हो सकती हैं। आज की समस्याओ को समाहित करने का सर्वोकष्ट सावन यदि है, तो वह अपरिग्रहवाद ही है। इस को छोड़ कर अन्य किसी साधन से तीन काल मे भी ससार मे शान्ति के दर्शन नही हो सकते।

एक समय था, जव मनुष्य को अपने खान-पान पहरान आदि की चिन्ता नही थी, उसके जीवन की सभी अवश्यकताए विना किसी कष्ट और क्लेश के पूरी हो जाती थी, इस का कारण केवल यही था कि उस समय के मनुष्य की आवश्य-कताएं आज की भांति असीम नही थी। थोडे मे सव का निर्वाह हो जाता था, और जोवन के लिए आवश्यक सामग्री

से अधिक किसी को अभिलाशा नही होती थी। शृंगार और विलास से उन को लगाव नही था। धन जोडना वे जानते ही नही थे। इसीलिए किसी को परिग्रह का विचार ही नही आता था। जब परिग्रह का विचार नही था, तो ईर्षा उत्पन्न होने का भी कोई अवसर नही आता था। परन्तु जब मनुष्य लोभी बन गया तो उस मे परिग्रह की भावना ने जन्म लिया। परिग्रह की इस दुर्भावना ने सग्रहवृत्ति के बीज को अकुरित किया। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य सोचने लगा कि कुछ न कुछ सामग्री पास मे सचित करनी ही चाहिए। इस से भविष्य मे सुविधा रहेगी। जब कोई भावना एक मनुष्य के हृदय मे उत्पन्न होती है, और वह दिनोदिन बढती चली जाती है तो उस का प्रभाव दूसरे मनुष्यो पर भी पडता है। इस नियम के अनुसार और समय के प्रभाव से अन्य व्यक्तियो के हृदयो मे भी सग्रहवृत्ति उद्बुद्ध होने लगती है। वह उद्बुद्ध होकर रह जाती हो, ऐसी बात नही है, बल्कि दिनोदिन उसका विस्तार होने लगता है। और ज्यो-ज्यो वह बढती चली जाती है, त्यो-त्यो दु खो मे भी वृद्धि होने लगती है। ससार मे जो हत्याकाण्ड और महायुद्ध हो चुके है या हो रहे है, ये सब उसी सग्रहवृत्ति के दुष्परिणाम होते है। इन से पिण्ड छुडाने का एक ही मार्ग है, और वह है—अपरिग्रहवाद। अपरिग्रहवाद हत्याकाण्डो और महायुद्धो को समाप्त करने के लिए ही अवतरित हुआ है। यह बीमारी के मूल को पकड कर उस को समाप्त करने की बात कहता है। ससार मे जितने भी हत्याकाण्ड और युद्ध होते है, उनके पीछे एक ही भावना काम कर रही है, और वह अमर्यादित सग्रहवृत्ति ही है। अपरिग्रहवाद

इसी सग्रहवृत्ति को मर्यादित करता है। संग्रहवृत्ति को लेकर मनविहग आशाओ के असंख्य आकाश मे जो उडारिया लेना चाहता है, उसे यह नियन्त्रित करता है, लोभी मन को सन्तोषशील वना देता है। मन के सन्तोषी बन जाने पर अमर्यादित सग्रहवृत्ति समाप्त हो जाती है, और अमर्यादित सगहवृत्ति के समाप्त हो जाने पर उस से होने वाले हत्याकाण्ड, युद्ध आदि सभी अनाचार सदा के लिए मिट जाते है । अपरिग्रहवाद की छाया तले पलने वाले जीवन राम और भरत की तरह साम्राज्य की गेन्द बनाकर उसे दूर फैक देते है, वे दुर्योधन की तरह महाभारत नही लडते है। यही अपरिग्रहवाद की असाधारण उपयोगिता है ।

मनुष्य को ध्यानपूर्वक सोचना चाहिए कि इस समय जिस को मैं अपनी आवश्यकता मान रहा हूं, यह वास्तव मे मेरी आवश्यकता है या नही ? क्या यह वस्तु मेरे जीवन के लिए आवश्यक है ? क्या इस के विना मेरा जीवन नही चल सकता ? यदि यह वस्तु न मिले तो मेरा कौन सा कार्य रुक जाएगा ? यदि ऐसी कोई वात नही है, उस वस्तु के विना अपना कोई काम नही रुकता है, उसके विना भी अपना जीवन आराम के साथ भली भान्ति चल सकता है तो मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि वह वस्तु उसकी आवश्यकता नही है । उस का दिल ही दगाबाज है, जो उसको अनावश्यक वस्तु भी आवश्यक वतला रहा है। इस प्रकार की विचारणा यदि प्रत्येक मनुष्य की वन जाए और किसी वस्तु की आवश्यकता के समय वह ऐसा विचार कर लिया करे तो उसको महान लाभ हो सकता है। आध्यात्मिक लाभ तो होगा

हो परन्तु सासारिक और गार्हस्थिक दृष्टि से भी वह लाभ मे रहेगा। वह व्यर्थ मे हाय-हाय करने से बच जायेगा और साथ मे अधिक धन जुटाने से भी छुट्टी पा लेगा। सन्तोप रूपी धन अनुपम धन है। ससार का कोई भी धन उसके समान आनन्दप्रद नही हो सकता। इसीलिए कबीर ने कहा है—

गो धन, गज धन, बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोप धन, सब धन धूलि समान ॥

वास्तव मे तृष्णा की पूर्ति से मनुष्य की तृप्ति न कभी हुई है और न कभी हो सकती है। सग्रहवृत्ति धारण करने से और अपरिग्रह के नियम का उल्लघन करने से लालसा बढती ही चली जाती है। इसीलिए एक हिन्दी कवि कहते है—

जो दस बीस पचास भए, शत होए हजारन लाख मगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असख, पृथ्वीपति होने की चाह जगेगी॥
स्वर्ग पाताल को राज करो, तृष्णा अधिको अति आग लगेगी।
सुन्दर एक सन्तोप बिनाशठ[1], तेरी तो भूख कभी न भगेगी॥

ऐसी है परिग्रह की भीषण आग। इसीलिए भगवान महावीर ने इस को त्याज्य बतलाया है, और अपरिग्रहवाद को जीवनागी बनाने की पवित्र प्रेरणा प्रदान की है।

परिग्रह के दुष्परिणाम--

परिग्रह ससार का सब से बडा पाप है। आज ससार के सामने जो जटिल समस्याए उपस्थित है, समाज और राष्ट्र मे विपमता, कलह और अशान्ति दिखाई दे रही है। गभीरता

से विचार करने पर इस का प्रधान कारण परिग्रह ही मिलेगा। परिग्रह को ले कर ही आज पूजीपति और श्रमजीवी इन दोनों मे सघर्ष चल रहा है। और तो क्या, स्वय पूजीपतियो मे और श्रमजीवियो मे भी परिग्रह ने सघर्ष को जन्म दे दिया है । पूजीपति आपस मे लड़ते हैं और श्रमजीवी आपस मे, यह सब परिग्रह का ही दुष्परिणाम है। परिग्रह के कारण ही भाई भाई का रक्त पीने को तैयार खड़ा है। मां पुत्र का गला घोटने की वात सोच रही है, बहिन भाई को, और भाई बहिन को समाप्त करने की ठान रहा है। अधिक क्या, संसार के सभी अनर्थो का मूल परिग्रह ही है। जब तक मनुष्य के जीवन मे अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि मौजूद रहेगी तव तक उसे शान्ति के दर्शन नही हो सकते। अत स्वपर की शान्ति के लिए मनुष्य को अमर्यादित स्वार्थवृत्ति और सग्रह-वुद्धि पर नियत्रण रखना चाहिए। इसी नियत्रण के लिए महामहिम भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद का सामयिक आविष्कार किया था।

परिग्रह जीवन का सर्वतोमुखी पतन कर डालता है, इससे मनुष्य मे अनैतिकता और अन्यायशीलता का विकास होता है। इस के द्वारा समाज अथवा राष्ट्र को आध्यात्मिक, आर्थिक और व्यापारिक क्षति उठानी पड़ती है। परिग्रह-प्रिय व्यक्ति अर्थ को अपना ध्येय वना लेता है, उस के सग्रह के लिए उस से जो भी भला वुरा हो सके, वह करने को तैयार रहता है। परिग्रही हिसापूर्ण व्यापारो से ज़रा सकोच नही करता है। वृक्षो को काट-काट कर कोयला वनाना, ठेका लेकर जंगलो को उजाडना, हाथीदान्त के लिए हाथियो को मारना,

मदिरा जैसी मादक वस्तुओ का विक्रय करना, मनुष्यो मे वेकारी बढाने वाले यन्त्रो को बेचना, और दुराचारिणी स्त्रियो से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना आदि निन्दय कार्यो तथा व्यापारो से लोभी जीवन को कोई सकोच नही होता है। उसको तो पैसा चाहिए। पैसे के लिए यदि उसे अपनी ही जननी का गला घोटना पडे तो वह इस दुष्ट कर्म से भी कभी नही हिचकिचाता है। स्वार्थ-प्रिय कोणिक ने अपने पिता महाराज बिम्बसार को पिजरे मे डलवा ही दिया था, और कस ने अपने पिता महाराज उग्रसेन के साथ जो दुर्व्यवहार किया था, उसे कौन नही जानता ?

परिग्रह व्यक्ति को शोषक बनाता है। शोषणवृत्ति का विकास परिग्रह से ही होता है। परिग्रह के ही प्रताप से लोभी जमीदार गरीब किसानो का शोषण करता है, उन पर अत्याचार करता है। मिल और फैक्ट्रियो के लोभी मालिक मजदूरो को पेट भर अन्न न देकर सव का सव नफा स्वय ही हड़प कर जाता है। लोभी साहूकार दुगना तिगुना सूद लेते है और गरीव लोगो की सम्पत्ति, जायदाद आदि अपने अधिकार मे लाने के लिए सदा चिन्तित रहते हैं, धूर्त व्यापारी खाने पीने की वस्तुओ मे मिलावट करते है, प्रकृति ने जो वस्तुए शुद्ध तथा निर्दोप ससार को अर्पित की है, मिलावट कर के उन्हे भी दूषित वना डालते हैं, उचित मूल्य से ज्यादा दाम लेते है, और कम तोलते हैं, कम नापते हैं। घूसखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी लोग उचित वेतन पाते हुए भी अपने कर्त्तव्य-पालन मे प्रमाद करते हैं, रिश्वतें लेते हैं,

लोभ से सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बना डालते है। लोभी वकील केवल फीस के लोभ मे आकर झूठे मुकद्दमे लडते हैं और जानते हुए भी कि यह लोग निरपराध हे, तथापि उन्हे दण्ड दिलवाते हैं। लोभी वैद्य रोगी का ध्यान न रखकर केवल अपनी फीस का ध्यान रखते है, और रोगियो को ठीक औषधि नही देते है। लोभ मे आकर ही शासक पुत्रतुल्य प्रजा का रक्त जोंक की भाति चूसते है, उसको सुखशान्ति की चिन्ता न करके अपने ऐश्वर्य और वैभव का सम्वर्धन कर रहे है। ऐटमवम, हाईड्रोजन वम, उद्जनवम तथा अन्य न जाने कितने विषाक्त शस्त्र-अस्त्रो का निर्माण करके ससार की सुखशान्ति को आग लगा रहे है। परिग्रह के दुष्परिणामो की कहा तक चर्चा की जाए ? ससार के सभी अनर्थो और क्लेशो का उत्पादक परिग्रह ही है। परिग्रह एक जाल है, जिस मे फसकर वहुत से ऐसे लोग है जो अन्यायपूर्वक तथा अनुचित रीति से लोगो के धन, श्रम और शक्ति का अपहरण एव अपव्यय करते है। अत. जीवन-शान्ति के इच्छुक व्यक्ति को परिग्रहवृत्ति से सदा दूर रहना चाहिए और अपरिग्रह की शीतल छाया तले ही जीवन के अनमोल क्षण विताकर अपने भविष्य को उज्ज्वल अथच समुज्ज्वल वनाने क सत्प्रयास करना चाहिये। इसी मे विश्व का हित सन्निहित है।

परिग्रह का सामूहिक निषेध—

परिग्रह की दुष्टता सर्वविदित है। यह लोक और परलोक दोनो का घात करता है। ससार के सभी विचारक व्यक्तियो ने इसे हेय और त्याज्य वतालाया है। विश्व के किसी भी सहृदय

शान्तिप्रिय चिन्तनशील व्यक्ति ने इस का समर्थन नही किया। किसी धर्म ने इस को स्वर्ग या अपवर्ग का कारण स्वीकार नही किया है । सभी इस का निषेध करते है । जैनागमो मे तो स्थान-स्थान पर परिग्रह को वहुत निन्दच और आपातरमणीय वतला कर उस के परित्याग के लिए वलपूर्वक प्रेरणा प्रदान की है। श्री स्थानागसूत्र द्वारा वर्णित नरकगति मे जाने के चार कारणों मे महापरिग्रह को एक स्वतत्र कारण वतलाया है। इस के अलावा उत्तराध्यन सूत्र में लिखा है—

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धण,
ममतबन्ध च महव्भयावह।

अर्थात्—धन दुख वढाने वाला है, ममत्व-वन्धन का कारण है, और महान भय का उत्पादक है।

कसिण पि जो इम लोयं, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न सन्तुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

अर्थात्—यदि धन और धान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाए तो भी उसे सन्तोष होने का नही है। क्योकि लोभी आत्मा को किसी भी तरह तृप्त नही किया जा सकता है।

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्दस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया॥

अर्थात्—कदाचित् सोने और चादी के कैलाश के समान असख्य पर्वत भी हो जाए तो भी लोभी मनुष्य के लिए वे कुछ भी नही होते, इतना पाकर भी वह सन्तुष्ट नही होता। क्योकि इच्छा आकाश को समान अनन्त होती है।

खेत्तु वत्थुं हिरण्ण च, पुत्तदारं च बन्धवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥

अर्थात्—मनुष्य को सोचना चाहिए कि क्षेत्र-भूमि, घर, सोना, चादी, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस देह को भी छोड कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा।

जैनागमो के अलावा, जैनेतर धर्म-ग्रन्थो मे भी परिग्रह का ज़ोरदार विरोध पाया जाता है। वैदिक शास्त्र यजुर्वेद मे *लोभत्याग के सम्बन्ध मे कहा है—

मा गृध. कस्यचिद् धनम् (यजुर्वेद, ४०—१)

अर्थात्—किसी का धन देख कर लोभ मत करो, सोचो कि यह धन किस के पास रहा है? यह तो आता और जाता ही रहता है।

भगवद्गीता मे नरक के तीन द्वार बतलाए गए है उन मे एक लोभ भी है। कहा है—

त्रिविधं नरकस्येद, द्वार नाशनमात्मन:।
काम. क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥

अर्थात्—नरक के तीन द्वार है जो आत्मा का विनाश करने वाले है। वे ये है—काम, क्रोध और लोभ। अतएव

---

*मोह, लोभ, लालसा, तृष्णा, आसक्ति आदि सब परिग्रह के ही नामान्तर है।

इन तीनो का त्याग कर देना चाहिए।

"प्रशमरति" मे परिग्रह को पाश बतलाया है। वहा प्रश्नोत्तर रूप मे इस सत्य को बडी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है—

"पाशो हि को ? यो ममताभिधान"

अर्थात्—आत्मा को फसाने वाला जाल क्या है ? उत्तर—ममत्व भावना ही जाल है, यह जाल आत्मा को फसा लेता है।

एक आचार्य कहते है—

"कि न क्लेशकर. परिग्रह॰, नदीपुर प्रवृद्धि गत"

अर्थात्—नदी को बाढ की तरह बढी हुई सग्रहवृत्ति कौन सा क्लेश उत्पन्न नही करती है ? भाव यह है कि सग्रहवृत्ति सभी प्रकार के क्लेशो और कष्टो को आमन्त्रित किया करती है।

भक्तराज कबीर जी ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर बात कही है—

कबीर औधी खोपरी, कबहू धापे नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, बरु आवे घर माहि॥

अर्थात्—लोभ के कारण जिस की अकल चकरा गई है, उसे सन्तोष के दर्शन कभी नही हो सकते। भले ही तीन लोक की सम्पत्ति उसके घर मे आजाए, पर उसे तृप्ति नही हो सकती।

मुस्लिम शास्त्र ने भी इस भाव की पुष्टि की है। हजरत मुहम्मद की एक हदीस मे लिखा है—

यदि मनुष्य को धन सम्पत्ति से भरपूर दो वन भी मिल जाए तो वह तीसरे की इच्छा करेगा। मनुष्य के पेट की कब्र

को मिट्टी के अलावा और कोई वस्तु नही भर सकती।

परिग्रह या लोभ की आग जब अन्त करण मे धधकती है, तो उसमे सभी सद्गुण और सभी मानवोचित सद्भावनए दग्ध हो जाती हैं। लोभी का हृदय वह ऊसर भूमि है, जिसमे कोई भी सद्गुण पनपने नही पाता, वह अनेकविध दुर्गुणो का शिकार हो जाता है। इसीलिए एक उर्दु का कवि कहता है—

गर हिरसो हवा के फन्दे मे, तू अपनी उमर गंवाएगा।
न खाने का फल देखेगा, न पीने का सुख पाएगा।।
इक दो गज कपड़े तार सिवा, कुछ सग न तेरे जाएगा।
ऐ लोभी बन्दे! लोभ भरे!, तू मर कर भी पछताएगा।।
इस हिरसो हवा की झोली से, है तेरी शक्ल भिखारी की।
पर तुमको अबतक खबर नही,ऐ लोभी! अपनी ख्वारी की।।
हर आन किसी से कजियाहै,या हर आन किसीसे झगड़ा है।
कुछ मीन नही,कुछ मेख नही,सब हिरसो हवाका झगड़ा है।।

ईसाई धर्म लोभ का,मोह का कितनी सुन्दरता से निराकरण करता है—

Take heed and beware of c vetousness, for a man's life consisteth not in the abundance of the things which he possesseth;

(LUKES 12-15)

अर्थात् -सावधान रहो, और लोभी मन का ध्यान रखो कि मनुष्य का वास्तविक जीवन धन, सम्पत्ति मे नही बनता है।

ईसाई धर्म की बाइबल मे तो यहा तक लिखा है—

It is easier for a camel to go through the eye of a needle, than for a rich man to enter into the Kingdom of God,

अर्थात् - सूई की नोक मे से ऊट निकल जाए, यह सभव है किन्तु धनवान (धनासक्त) स्वर्ग मे प्रवेश नही कर सकता।

एक पश्चिमी विद्वान रेनोल्ड्स (Renolds) कहते है—

Less coin, less care

अर्थात्—जितना धन कम होगा, उतनी ही कम चिन्ता होगी।

प्रसिद्ध विचारक सुकरात कहते है—

He is the richest who is content with the least

अर्थात्—वह पुरुष सबसे बडा सम्पत्तिशाली है, जो थोड़ी सी पूंजी से सन्तुष्ट रहता है।

विश्वविख्यात कवि शैक्सपियर का कथन है—

Gold is worse poison to men's souls than any mortal drug.

अर्थात्—सब प्रकार के विषैले पदार्थों मे, मनुष्य की आत्मा के लिए, धन बडा भयकर विष है।

महान विजयी सिकन्दर को कौन नही जानता? उसने अपनी मृत्यु के समय अपनी समस्त सम्पत्ति को एकत्रित करके उस पर अश्रुपात करते हुए कहा था—

"क्या इस अपार सम्पत्ति मे से एक कौडी भी मेरे साथ जाने वाली नही है? हाय, इसी सम्पत्ति के लिए मैने कितनी माताओ को पुत्रविहीन बनाया, कितनी सौभाग्यवतियो के सुहाग

छीने, मैंने अनेक देशो को लूटा, पर अब अन्त समय यह धन मेरा साथ नही दे रहा है।"

धन की असारता और आपातरमणीयता देख कर ही सिकन्दर ने राज्य अधिकारियो को अपना एक अन्तिम सदेश दिया था। उसे ने कहा था—

"मेरे दोनों हाथ कफन से बाहिर रखना। ताकि लोग देखले कि मेरे हाथ खाली है और लोग सोच सके कि जो मूर्खता सिकन्दर ने की है वह हम न कर सके।

महात्मा गान्धी ने एक बार कहा था—

सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नही है बल्कि उस का विचार और इच्छा-पूर्वक घटाना है। ज्यो-ज्यो परिग्रह घटाए त्यो-त्यो सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है, सेवाशक्ति बढती है।

अपरिग्रह से मतलब यह है कि हम ऐसी किसी चीज का संग्रह न करे जिस की हमे आज दरकार नही है।

सन्त विनोवा कहते है—

परिग्रह की चिन्ता से अन्तरात्मा का अपमान होता है, अपरिग्रह की चिन्ता न करने से विश्वात्मा का अपमान होता है इसीलिए अपरिग्रह सुरक्षित है।

अपरिग्रह की कैंची ज्ञान पर भी चलानी चाहिए, व्यर्थ भराभर ज्ञान का परिग्रह रखना योग्य नही है।

ऊपर की पक्तियो मे परिग्रह की यह कितनी बड़ी कड़ी आलोचना है ? विश्व के प्रत्येक सन्त-हृदय विचारक ने परिग्रह-भावना की भर्त्सना ही की है और उसे सर्वथा हेय

बताया है। अत प्रत्येक शान्ति-प्रिय व्यक्ति को परिग्रह का परिमाण करके अपरिग्रह की सुवास से अपने अन्तर्जगत को सुवासित करना चाहिए। धन की आवश्यक मर्यादा करके परिवार, जाति और राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल बनाने मे अपना योगदान देना चाहिए।

उपसहार—

भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओ का सामयिक सर्वोत्तम समाधान है। यदि इसे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय जीवनो मे अपना लिया जाए तो अर्थ-विषमता को लेकर ससार मे जो भी समस्याएं चल रही है वे सब जल्दी समाप्त हो सकती हैं। अर्थ-तृष्णा की आग मे मानवजगत जलकर भस्म न हो जाए, मानव-जीवन का एक मात्र लक्ष्य धन ही न बन जाए, जीवन चक्र माया के इर्द गिर्द ही न घूमता रहे और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अन्धकार मे विलीन न हो जाए इसके लिए अपरिग्रहवाद का भाव जीवन मे लाना ही पडता है। विश्व-शान्ति के लिए इससे बढकर और कोई साधन नहीं है।

बरनार्डशाह और जैनधर्म

ट्रिब्यून, तारीख ३१-७-४६, पृष्ठ ४, सम्पादकीय लेख के कालम तीसरे मे जार्ज बरनार्ड शाह के विषय मे लिखा है कि बरनार्ड शाह इङ्गलैण्ड के ही नही प्रत्युत ससार भर के सुप्रसिद्ध लेखक हैं। इन की आयु ९० साल की है। सुलझे हुए विचारो के ये विद्वान है। अपने समय के अनुपम उपन्यासकार है। आत्मविश्वासी है। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी है। इन का सब से बड़ा आर्ट (कला) जनहित की भावना से भरपूर साहित्य का निर्माण है। इसी कारण से भारतीयता के ये अधिक समीप है। अभी-अभी इन्होने यह इच्छा प्रकट की है कि यदि मुझे अगले जन्म मे धर्म चुनना पडे तो मै जैन धर्म को ही पसद करूंगा।

बरनार्ड शाह के अपने शब्द निम्नोक्त है—

"—If I w re to select a religion, it would be an eastern o.e, Jainism—,

अर्थात्—यदि मुझे कोई धर्म चुनना पडे तो वह पूर्वीय "जैनधर्म" होगा।

जैनधर्म की महानता और लोकप्रियता कितनी अपूर्व है और जैनधर्म विश्व के धर्मों मे कितना ऊचा स्थान रखता है यह बात जॉर्ज बरनार्ड शाह के उक्त शब्दो से अच्छी तरह प्रकट हो जाता है।

-प्राप्ति स्थान-

आचार्य श्री आत्माराम जैनप्रकाशनालय

जैनस्थानक, लुधियाना